तुलसी और तुंचन

(तुलनात्मक समीक्षा)

तुलसी और तुंचन

(उत्तर भारत के महाकवि तुलसीदास और दक्षिण भारत के महाकवि तुचन का तुलनात्मक अध्ययन)

भूमिका : ए० चन्द्रहासन
लेखक : रामचन्द्र देव

कावेरी प्रकाशन, नई दिल्ली
17/110 न्यू डवल स्टोरी,
लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-14

तुलसी और तुंचन

डा० रामचन्द्र

दो शब्द

यह ग्रंथ 10 वर्ष पहले बनारस विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर उपाधि के उपलक्ष्य में प्रबंधरूप मे समर्पित हुआ था। आज यह मुद्रित रूप में सहृदय पाठकों के सामने है। इतने समय के बीत जाने से लेखक की चिंतनविधा में जो विकास और विपर्यय उपस्थित हुआ, उसके प्रभाव से इस प्रबंध के कलेवर मे यद्यपि थोडा बहुत परिमार्जन आवश्यक हुआ तथापि उनकी आत्मभूत वस्तु मे मौलिक परिवर्तन की कोई आवश्यकता प्रतीत नही हुई।

इस ग्रंथ को इस रूप मे प्रकाशित करने का समस्त श्रेय स्वनामधन्य प्रोफेसर ए० चन्द्रहासन जी अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, केरल विश्वविद्यालय, को ही है। उनका उत्तुंग व्यक्तित्व एवं उदार हृदयालुता न केवल हिन्दी के क्षेत्र को, अपितु केरल के सांस्कृतिक जीवन की प्रत्येक धारा को हर संभव प्रकार से परिपोषित कर रही है, यह सर्वविदित ही है। इसका प्रकाशन उन्ही की सत्प्रेरणा और सदाशयता का परिणाम है।

इसके प्रणयन मे महायता देने वाले गुरुजनो का नामस्मरण भी इस प्रसंग मे अत्यन्त आवश्यक है। आचार्यप्रवर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा गुरुवर प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सुरभिल व्यक्तित्व तथा साहित्यिक मान्यताओं से लेखक ने स्थायी प्रेरणा ग्रहण की है। आचार्य डा० राजपति दीक्षित के सत्परामर्शों और सुझावो से लेखक बहुत ही लाभान्वित रहा है।

उत्तर और दक्षिण के दो कवियो के सामान्य अवलोकन से भारतीय आत्मा की अखण्ड सत्ता के दर्शन ही लेखक कर सका है। स्थूल दृष्टि के लिए भी इस प्रकार के अध्ययन का 'प्रयोजन लेखक के विचार से यही है और इसी में इस प्रकार के अध्ययन की उपादेयता है।

विषयानुक्रमणिका

लदन विश्वविद्यालय के विख्यात प्राच्यविद्या विशारद डा० बार्नेट ने दोनों की समानता पर विचार करते हुए ठीक ही लिखा है कि तुंचन दक्षिण के मलयालियों के जीवन मे वही स्थान रखते हैं जो तुलसीदास हिन्दी भाषा भाषी जनता के जीवन म।[1]

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि उसका साहित्य, दर्शन, कला, विज्ञान सब कुछ आध्यात्मिक विचारों से अनुप्राणित है।[2] यहाँ वे ही सबसे बड़े कवि माने जाते हैं जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। जीवनचर्या की पवित्रता तथा उदात्त आदर्शोन्मुखता जिसम नहीं हो वह यहाँ कवि नहीं माना जाता था। यहा के आदि कवि का ऋषि होना इसका सबसे पुष्ट प्रमाण है। 'कवि' शब्द भारतीय साहित्य तथा चिन्तित पद्धति में कितना महत्व रखता था, यह इसी से प्रकट हो जाता है कि हमारे वेद मे वह ईश्वर का पर्यायवाची माना गया है।[3] कदाचित् यही कारण है कि इस देश में अंग्रेजी के बायरन-सा कोई कवि पदा नहीं हुआ, होने पर जनता से वह स्थान और वह आदर उसे प्राप्त न हो सका जो बाल्मीकि और व्यास को कालिदास और भव भूति को, तुंचन एव तुलसी को दिया गया। तुलसीदास ने यदि मध्यकालीन हिंदी कवियो मे सवश्रेष्ठ स्थान पाया तो उसका कारण उनकी अप्रतिम काव्य प्रतिभा के साथ ही उनकी चरित्रगत विशेषता, आदर्श प्रियता तथा लोक संग्रह

---

1 Thunchathu Ezhutacchan is to the Malayalis in Southern India what Tulsidas is to the Hindi speaking people of the North—the supreme poet and religious teacher
—Dr L D Barnett Introduction to Ezhutacchan and His Age (1940) p 1

2 The dominent character of the Indian mind which has coloured all its culture and moulded all its thought is the spiritual tendency spiritual experience is the foundation of India's rich cultural history
—Dr Radhakrishnan—'Indian Philosophy Vol I, (1951), p 41

3 स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम् अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः
—यजुर्वेद 40।8।

ारिणी मनोवृत्ति भी है। तुंचन के भी उत्कर्ष का यही कारण है कि उनमे ाहित्यिक प्रतिभा के साथ ही उच्च आदर्शों द्वारा मानवता के उन्नयन की त्परता और लोक-संग्रह की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। हमारे कहने का तात्पर्य ़वल इतना ही है कि भारतीय कवियो मे, क्या दक्षिण के क्या उत्तर के, विचार ौर आदर्श सम्बन्धी जो एकता पायी जाती है वह भारतीय सस्कृति की ही वशेषता है जिसके प्रभाव से, सैकडो कृत्रिम खडो मे विभक्त रहने पर भी, अनेक ाजनैतिक तथा सामाजिक अग्नि-परीक्षाओ का पात्र होने पर भी, भारतवर्ष ारतवर्ष ही रहा।

किसी भी देश का सांस्कृतिक अध्ययन उसके साहित्य के अनुशीलन द्वारा ी सम्यक् हो सकता है। क्योकि जीवन-जन-समुदाय की गतिविधि उसके ाहित्य मे ही पूर्णत. प्रतिविम्बित हो सकती है। भारतीय वाङ्मय मे भक्ति ाहित्य का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। भारतीय मनीपा की सर्वोत्तम साहित्यिक रिणति भक्ति-साहित्य मे ही लक्षित होती है। उदाहरण के लिए, हमारे र्वश्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थ रामायण और महाभारत को ले लीजिए। इन दोनो ृहत ग्रंथो की रचना एक सामान्य लक्ष्य को लेकर हुई है। महाभारत भारतीय जीवन और सस्कृति का विश्वकोश ही माना गया है। संसार के विपुलतम इस महाकाव्य मे अंगी रस, हमारे साहित्यशास्त्रियो के अनुसार, शान्त है।[1] इसमें राजनैतिक उथलपुथलो तथा रणघोपों की चट्टानो से टकराती हुई, आख्यानो और उपाख्यानो की वनस्थली के वीच से अध्यात्मचिन्तन की मंदाकिनी निरंतर प्रवाहित होती है और अन्त मे स्वाववोध और अभेददर्शन के महासागर मे विलीन भी हो जाती है। अकृत्रिम भाव-सौंदर्य और अनुपम कला सौष्ठव के लिए प्रसिद्ध वाल्मीकि रामायण का अंगीरस आचार्यों ने करुण मान लिया है। साहित्य मीसासको को भी अन्ततोगत्वा हरिभक्ति के समान सुख कही दिखाई नही पडा। आनन्दवर्धन ने समस्त विधाओ का आलोडन करने के वाद घोपणा की—

> या व्यापारवती रसान्रसयितुं काचित् कवीना नवा
> दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविपयोन्मेपा च वैपश्चिती
> ते दे अप्यवलंव्य विश्वमनिशं निर्णयन्तोवयम्
> श्रान्ता नैव च लव्धमव्धि-शयन त्वद्भक्तितुल्यंसुखम् ॥

---

1. महाभारतेपि———शान्तो रसश्च मुख्यतयाविवक्षितविपयत्वेन सूचित:।
ध्वन्यालोक—चतुर्थ उद्योत, चौखम्वा संस्करण, पृ० 530।

इस प्रकार भारतीय साहित्य के आधार भूत ग्रन्थो मे भी एक सामान्य प्रवृत्ति स्थूलदृष्टि के लिये भी लक्षित होती है। वह वृत्ति है, मानव-जीवन को स्थूल से सूक्ष्म की ओर, दृश्य से अदृश्य की ओर, सान्त से अनन्त की ओर एव ससीम से असीम की ओर ले जाने की वृत्ति। क्षण भगुर दृश्य जगत् मे अदृश्य पर स्थायी सत्ता की ओर उन्मुखता भारतीय मनीषा मे काफी प्राचीन काल से पायी जाती है।[1] समस्त भारतीय साहित्य म पाश्चात्य विद्वानो ने जो अतिमात्र आदर्शप्रियता[2] और पलायनवाद[3] तक का आरोप किया है, उसका यही कारण है। आश्चर्य के साथ कहना पडता है कि यहा के लोकायतिको को भी ऋण कृत्वा घृत पिबेत् कहना ही अभीष्ट रहा सुरा पिबेत्' नही। इस सामान्य तत्व को समझ लेने के बाद ही समूचे भारतीय साहित्य का, विशेषकर भारतीय भक्ति साहित्य का सम्यग् अध्ययन सभव है।

भारतीय साहित्य ने कर्मसकुल जीवन की उपेक्षा नही की है। ससार के ज्वलत प्रश्नो से पराङ्मुख होने का आदेश भारत ने कभी नहीं दिया। 'हे पुरुष नीचे मत गिरो, ऊपर चढ़ो, मृत्यु से भी मत डरो'[4]—वेद का आह्वान है। गीता में कर्मयोग ही मुख्य है— योग कर्मसु कौशलम्। महाभारत और रामायण मानो 'मनुष्य की जययात्रा' की ही कहानी हैं।

एक दृष्टि से देखने पर परवर्ती भारतीय चिन्तनधारा में एक प्रकार का अवरोध लक्षित होता है। यह कर्म विमुखता उत्कट कर्मवाद की प्रतिक्रिया के रूप म

---

1 सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।
—ऋग्वेद, 10/129/4।

इसका अर्थ मैक्समूलर ने इस प्रकार दिया है—
Poets discovered in their hearts through meditation the bond of the existing in the non existing
—Max Muller— A History of Ancient Sanskrit Literature (1912) p 10

2. Max Muller—'A History of Ancient Sanskrit Literature, p 16
3 Albert Schewitzer— Indian Thought and its developments (1951) p 10 21, 31
4 अथर्ववेद 114।

ही आई है। काल के अनवरत प्रवाह मे कभी-कभी ऐसे कुछ तत्व भारतीय चिंतन मे अवश्य सम्मिलित हुए हैं जो लोगों को कर्ममार्ग से पराङ्मुख भी कर सके। बौद्ध सिद्धान्तो से प्रभावित शंकराचार्य के मायावाद ने अपने 'जगन्मिथ्या' वाले सिद्धान्त से जाति को कर्मक्षेत्र से विमुख किया जिसकी पकड़ से वह अभी तक पूर्णतया विमुक्त नही हो पाई है। यही प्रवाह तथागत के दुःखवाद का भी रहा।

दुनिया मे यह एक अविचल नियम ही है कि प्रत्येक क्रिया की एक प्रतिक्रिया हुआ करती है। यह स्थिति केवल याद्दच्छिक नही है। क्रिया और प्रतिक्रिया में कारण-कार्य सम्बन्ध ही वर्तमान है। इसी से सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हुआ करती है। उदाहरणार्थ, हिंसायुक्त वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध भगवान बुद्ध का अहिंसावाद, शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया मे द्वैत, विशिष्टाद्वैत और सगुण भक्तिधारा का प्रवाह सब इसी प्रक्रिया के द्योतक हैं।

तुलसीदास जी की सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अध्ययन से यह नितरा व्यक्त हो जाता है कि उनके जीवन और साहित्य-सपर्या ने किस महान सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति की है। तत्कालीन भारतीय समाज की—विशेष कर हिन्दू जनता को—उनकी अमृतनिष्यदिनी वाणी ने किस प्रकार संभाला, यह विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नही है। ठीक उसी प्रकार केरल की जनता को तुंचन ने अपनी भवगद्भक्ति से, समार्द्र वाणी से किस प्रकार उद्वुद्ध किया, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे ही। अगर स्थूल से सूक्ष्म अधिक महत्वपूर्ण और अधिक शक्तिशाली है, बाह्यक्रिया से बुद्धि और भावना के व्यापारो की व्यापकता अधिक है तो संदेह नही कि कवि और कलाकार, दार्शनिक और विचारक मनुष्य के विचार और तदारा कर्म के क्षेत्र मे कही अधिक स्थायी और दूरव्यापक क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। वाल्टेयर और रूसो, मार्क्स तथा गांधी ये सब इस सिद्धान्त के उज्ज्वल उदाहरण है। नीशे ने जर्मन जनता के नित्य जीवन तक को कितना प्रभावित किया था, यह सर्वविदित ही है। दार्शनिकों का निष्कर्ष अबोध साधारण जनता को कभी-कभी पथभ्रष्ट भी कर देता है। पर कवियो के सम्बन्ध मे ऐसा नहीं कहा जा सकता। कवि मानव मन के सूक्ष्म तथा मृदुल-भावो को उद्बुद्ध करके उन्ही के परिष्कार द्वारा उसे विश्व मानवता की ओर अग्रसर करत

है। शीलर ने कहा— मानव मन की मुक्ति के अतिरिक्त काव्य का कोई प्रयोजन है भी नहीं।'[1] यही सब देनों और काला के उच्चकोटि के कवियों का लक्ष्य भी होना है। अतएव कवि को साभिमान कहने का अधिकार है कि—
We are the movers aud shakers of the World for ever, it seems'

तुलसीदास और तु चन दोनो इसी कोटि के कवि हैं। उन्होने अपने अपने समाज को जो रूप दिया वह कितना व्यापक और स्थायी हो सका इसका अनुमान सिर्फ इस बात से हो सकता है कि वर्तमान उत्तर भारत की सामाजिक व्यवस्था बहुत कुछ तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित आधार पर ही अवलम्बित है और केरल और तु चन के विषय में भी बहुत कुछ यही बात कही जा सकती है। आधुनिक काल म अस्वाभाविक सामाजिक बधनो के शथिल्य की प्रवणता केरल में कुछ अधिक लक्षित हो सकती है। लेकिन यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्वय हमारे आलोच्य कवि तु चन उस स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति को गति पहुचाने वाले थे पर वे अधिक सयत और शात। उनका लक्ष्य कोरी सामाजिक क्रान्ति न था आधुनिक अथ म वे सम्भवत क्रान्तिकारी भी न थे। पर उनका काम किस प्रकार सामाजिक परिवतन को प्रेरणा दे सका, यह हम आगे देखेंगे। सामाजिक राजनैतिक तथा साहित्यिक मान्यताओं म बहुत अधिक परिवतन होने पर भी आज तक अमीर-गरीब सबक गहों में समान रूप से सम्मान्य कोई ग्रन्थ यदि है तो वह तु चनविरचित है —चाहे वह रामायण हो चाहे भागवत चाहे भारत। भाषा भाव आदि काव्य-तत्वों की दृष्टि से तुलसी द्वारा निर्दिष्ट माग पर ही हिन्दी साहित्य अग्रसर हो रहा है, यह नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि तुलसी ने जिन भगवान रामचन्द्र का चरितगान किया उस पर आधुनिक युग म भी काव्य निर्माण हो गया है।

---

1 The Poetical works of Mathew Arnold —Edited by C B Tinker and H F Lowry Preface p 18 Ed 1953

2. This unique quality has made his epics eminently fitted for daily recitation with reverence in every Malayali Home and they have raised the tone of its character and the sense of aesthetic appreciation of the people
—C A Menon— Ezhuthacchan and His Age (1940) p 161

तुंचन के वाद के मलयालम साहित्य मे भी यही अवस्था है। यह उन दोनों कवियो की महिमा के कारण नही प्रत्युत राम की कथा की विशेपता मात्र है। वाल्मीकि के राम का चरित्र स्वयं ऐसा अक्षम भडार है जिससे सभी समय के कवि काव्य-निर्माण का विपय ढूँढ सकते हैं,[1] गोस्वामी जी ने जिस भापा (अवधी-व्रज) को अपनी काव्य-रचना का माध्यम वनाया था उसका प्रयोग आज हिन्दी काव्य जगत मे नही के वरावर है। उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दो की भी प्राय. यही दशा है। परन्तु उनकी असाधारण प्रतिभा तथा कमनीय कल्पना का जो चमत्कार उनके ग्रन्थो मे पाया जाता है वह आज भी प्रत्येक साहित्यकार के लिए प्रेरणा का स्रोत है। जहाँ तक भापा तथा छन्दो का प्रश्न है तुंचन की स्थिति इससे विल्कुल भिन्न है। तुंचन ने सस्कृत तथा द्रविड शव्दो के समुचित सम्मेलन से जिस नवीन भापा-शैली का उद्घाटन किया उसी के आधार पर आज की मलयालम कविता अग्रसर हो रही है। (अवश्य सस्कृत शव्दो की सख्या आजकल कम होती जा रही है, लेकिन उच्चतर साहित्य मे अव भी उनकी वहुलता है)। उनके पहले भी सस्कृत और भापा का मिश्रण हो गया था। उस काल की भापा मे शाव्दिक चमत्कार और पाडित्य प्रदर्शन के विचार की ही प्रधानता थी। इस अस्वाभाविकता के वोझ से तुंचन ने भापा को मुक्त किया और उसे स्वतन्त्र अस्तित्व भी प्रदान किया। वे नये छन्दो के आविष्कारक नही थे। पर उन्होने जिन छन्दो का व्यवहार किया वे ही आज की कविता के लिये प्रयुक्त होते है।

अपने युग की मागो, अभावो तथा तत्पूर्ति के उपायो का इन्हें पूर्णज्ञान था। ये भविष्य-द्रष्टा और भविष्य-सृष्टा भी थे। संग्रह और त्याग मे अति सूक्ष्म विवेचन-पटुता तथा व्यावहारिक क्षेत्र मे आत्यंतिक औचित्य-दीक्षा युग-निर्माता कवियो के लिये परम आवश्यक है। उनके लिये अचूक अंतर्दृष्टि और अडिग आत्मविश्वास की भी आवश्यकता होती है। विरोधी प्रतीत होने वाले विविध तत्वो को समन्वयात्मक वुद्धि से स्वीकृत करके नया मार्ग प्रशस्त करने मे ही युग पुरुप की सफलता निहित है। गोस्वामी तुलसीदास तथा तुंचत्तु एलुत्तच्छन दोनो ही ऐसी असाधारण विभूतियों से अवश्य सम्पन्न थे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'तुलसीदास जी को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उसका

---

1. Monior Williams, Quoted by C.N. Mehtha in the 'Flight of Hanuman' Introduction, p. 2.

कारण यह था कि वे समन्वय की विशेष बुद्धि लेकर उत्पन्न हुए थे। भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो।[1]

वस्तुत विभिन्न आचार विचारों और मत मतान्तरो मे विभक्त साथ ही साथ पराजय से भी अभिभूत एक विशाल जनसमुदाय का नियन्त्रण असमग्र होते हुए भी और किस मार्ग से सभव था ? पराजित तथा किंकर्तव्यविमूढ़ जनता की आमर्दित अभिलाषाओं और कुण्ठाओं को उन्मुक्त सात्विक वातावरण में भगवदपरायण शान्ति की सांस लेने का अवसर तुलसीदास जी ने ही दिया। वे शत प्रतिशत भक्त थे। उनका जन्म उस समय हुआ था जब कि भौतिक उत्कर्ष की उपलब्धि एक प्रतिभासम्पन्न कवि के लिये अनायास ही हो सकती थी। लेकिन उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में सभी प्रकार के आडंबरो की भर्त्सना की है।[2] विन्सेण्ट स्मिथ के अनुसार तुलसीदास अपने समय के हिन्दुस्तान के बादशाह अकबर से भी महान थे[3] पर उनका जीवन गरीबी में ही व्यतीत हुआ। शायद यही कारण है कि मानव जीवन की वास्तविक स्थिति और स्वरूप का उन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया। उनकी प्रत्येक वाणी में अकृत्रिम अनुभूति की जो तीव्रता पाई जाती है उसका भी यही कारण है। काव्य व्यवसाय से साटोप जीवन बिताने वालो की कमी उन दिनों नहीं थी। किन्तु त्याग और आत्मोत्सर्ग की प्रतिमूर्ति गोस्वामी जी ने स्वान्तसुख से संपृक्त लोकसुख अपना लक्ष्य बनाया। ऐसी निरीहता और ऐसी निरभिमानता और कहाँ लक्षित हो सकती है ? तुलसीदास में कवि और भक्त का समुचित सामंजस्य है। साथ ही साथ सामाजिक नेता का गुण भी उनके व्यक्तित्व में मिल गया है। कवि की कल्पना कुशलता और भक्त की भावुकता युग-पुरुष का नीर क्षीर विवेक और समन्वयवादी की सब संग्राहकता शास्त्रविचक्षण का मर्यादावाद और समाज-सुधारक का सम्यक् दृष्टिकोण, यही तुलसीदास के व्यक्तित्व के मुख्य उपादान हैं। अस्तु।

ऊपर जो कुछ तुलसीदास जी के विषय में कहा गया है वह प्राय तुंचन के विषय में भी लागू है। उनके सम्मुख भी एक ऐसी जनता थी जो अपने प्राचीन गौरव के विनष्ट हो जाने के कारण एक शून्यता बोध का अनुभव कर

1 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी— हिन्दी साहित्य' 1952, पृ० 233।

2 डा० राजपति दीक्षित— तुलसीदास और उनका युग (स०2009), पृ० 79।

3 विन्सेण्ट स्मिथ— अकबर दि ग्रेट मुगल, पृ० 417।

रही थी। उनके सामने विविध मतमतान्तरों के प्रत्याख्यान की आवश्यकता बहुत कम थी। उनकी एकमात्र कामना भगवद्भक्ति के प्रचार और प्रसार से अपने तथा अपरो के जीवन को मंगलमय बनाना था। तुलसीदास जी के समान वे उच्च कुलोत्पन्न नही थे। किन्तु उनका प्रभाव उच्च-नीच सब पर व्याप्त हो गया और सबने समानता से उनका सम्मान किया। उन दिनो वेद और विद्याध्ययन का अधिकार अंध-परम्परा ने ब्राह्मण कहे जाने वाले लोगो को ही दे रखा था। पंडितम्मन्य लोगों को साधारण मनुष्य की आवश्यकताओ और अभिलाषाओ से क्या मतलब ? विलासिता एवं कोरी शृंगारिकता को ही ऐसे लोगो ने काव्य का प्राणभूत तत्व समझ रखा था। धर्म केवल मदिरो मे समा गया था। छोटे-छोटे देशी-राजाओ के परस्पर कलह तथा पुर्तगाल आदि विदेशी शक्तियो के भीषण आक्रमणो के कारण जनता सत्रस्त थी, समाज मे उच्छृंखलता और आतंक छा गया था। इस कलुषित वातारण मे जन-हृदय को शांति तथा शक्ति प्रदान करने के लिये एक महान् व्यक्तित्व की बड़ी जरूरत थी। इसी की पूर्ति तुंचन द्वारा सम्पन्न हुई।[1] उनका काव्य जैसे समाजोद्धार के लिये अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ वैसे ही साहित्यिक प्रगति के लिये भी। उनके युग से ही आधुनिक मलयालम साहित्य का आरम्भ समझना चाहिए। संस्कृत और तमिल के जटिल बंधनो से उन्होंने मलयालम साहित्य को स्वतंत्र किया। उन्होने दोनो—सस्कृत तथा मलयालम—शब्दो के संयोग से ऐसी काव्य-भाषा को रूप दिया जिसमे प्रौढता और गम्भीरता के साथ ही साथ मधुरता और लालित्य की सरक्षा भी हुई।

तुलसीदास के समान तुंचन भी परमभक्त और योगी थे। उन्हे भी जीवन की समस्याओ का अच्छा परिचय था। विभिन्न तत्वो के समन्वय को चेष्टा इन दोनो कवियो की वाणी मे जितनी शक्ति और स्थिरता के साथ हुई उतनी और किसी में भी नही। तुंचन के विषय मे कहा गया है कि धर्म उनके लिए केवल चिन्तन की वस्तु नही थी, प्रवृत्ति और अनुभूति की वस्तु थी, विभिन्न धर्माचारो की सगम-भूमि थी।

---

1. 'It was from this cultural calamity that Ezhuthacchan saved his countrymen, particularly the major portion of the Nairs and masses.'
—Dr. C.A. Menon, Ezhuthacchan and His Age. p. 164.

तुलसी और तु चन दोनो ने राम कृष्ण के महान चरित को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। तुलसी ने 'कृष्णगीतावली' के द्वारा कृष्ण के प्रति भी अपनी अनन्य आस्था प्रदर्शित की। परन्तु वे मुख्यत रामभक्त ही थे। रामचरितमानस ही उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना भी है। जहा तक ग्रन्थों की बात है तु चन की बात एसी नहीं है। उन्होंने सक्षेप में महाभारत की भी रचना मलयालम म की जो आलोचको को दृष्टि म उनके रामायण से भी उत्कृष्ट कोटि की ठहरती है।[1] भागवत की भी उनक द्वारा रचना हुई है पर बहुत से विद्वान इस इनकी रचना नहीं मानत।[2]

उक्त चर्चा क पश्चात् दोनो महान व्यक्तियो के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास आगे के परिच्छेदो म किया जाएगा। जसा कि हमने आरभ म ही सूचित किया है तु चन के प्रभावक्षत्र की व्यापकता तुलसी की अपेक्षा बहुत कम है। तुलसी साहित्य सभवत हिन्दी साहित्य का सबस सपुष्ट अग है। ससार की प्राय समस्त प्रमुख भाषाम्रो म रामचरितमानस का अनुवाद भी हो गया है।[3] विविध देशो म तुलसी सबधी अनुसधान अध्ययन भी प्रभूत मात्रा मे हो रहा है। अपन दश के भी अनेक मनीषा इस काय म सलग्न हैं। कि तु तु चन के बारे म बहुत परिमित मात्रा म ही अध्ययन की सामग्री उपलब्ध है। एक शताब्दी पूव कुछ पाश्चात्य विद्वानो का ध्यान इस ओर अवश्य गया था परन्तु वह यथेष्ट आगे नहा बढ सका। पदश क विद्वानो द्वारा जो काम किया गया है वह भी हि दी के तुलसी साहित्य की तुलना मे अत्यल्प मात्र है। भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाम्रो के रामायण-कथा गायको की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। फिर भी इन कवियो का तुलनात्मक अध्ययन अनेक दृष्टियो से महत्व पूर्ण है। इसके द्वारा मध्यकालीन भारतवष की विच्छिन्न नहीं तो प्राच्छन्न, सास्कृतिक शृखला की कडियों को पुन मिलाने म अवश्य सहायता मिलेगी। इन पक्तियो क लेखक का विनीत उद्दश्य भी इसके सिवा और कुछ नहीं है।

---

1 'The change from Ezhuthachan s Ramayana to his Maha bharatham is like the one from flower to fruit
—Dr C A Menon Ezhuthacchan and His Age p 127

2 पी० के नारायण पिल्लै— विज्ञान रजनी श्री महाभागवतम् नामक लेख पृ० 129 156।

3 आचाय विश्वनाथप्रसाद मिश्र—'आलोचना' विशेषाक जनवरी, 1859 पृ० 66-67।

जीवन-वृत्त

वडे खेद की वात है कि भारतीय-मनीपा के उत्तमोत्तम उदाहरण प्रस्तुत
वाले महान व्यक्तियो के जीवन-वृत्त हम लोगो के लिए प्रायः अप्राप्य
किवदन्तियो और जनश्रुतियो पर ही अन्वेपको को भी संतोप करना पड़ता
हमारे प्राचीनकाल के कवियो ने व्यक्तिगत जीवन की सूचना तक अपनी
नाओं मे देना उचित नही समझा। इससे यद्यपि उनकी स्वार्थनिरपेक्ष कर्म-
ता तथा अप्रतिम विनयशीलता का उज्ज्वल आभास मिलता है, तथापि
के व्यक्तिगत जीवन की जानकारी, जो काव्यास्वादन और उसके मूल्याकन
आधुनिक दृष्टिकोण से आवश्यक अग हो गई है, असंभव हो जाती है।
वी पीढी के लोगो को 'कवि न होउं नहि वचन प्रवीनू सकल कला सव विद्या
ू'[1] कहने वाले तुलसीदास या अपने को 'ब्रह्मपादज', 'अज्ञानिनामाद्य'[2]
झने वाले तुंचन से उनके आत्मचरित कथन की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है।
मे सदेह नही कि जीवन विपयक कुछ अंतरंग साक्ष्य दोनो के ग्रन्थो मे मिलते
कुछ वहिरंग साक्ष्य भी प्राप्य है पर इन सवके होते हुए भी हम इन दोनों
वियो की जन्म-मृत्यु-तिथि, जन्मस्थान, माता-पिता आदि के विषय मे
र्वमान्यरूप से कुछ भी नही कह सकते, विभिन्न विद्वानो मे इतना अधिक
तभेद है। फिर भी अधिकतर विद्वानो की धारणा के आधार पर हम अपनी
न्यता स्थिर कर सकते है।

हम यहाँ पहले तुलसीदास की जीवनी का सक्षिप्त परिचय देकर तव तुंचन
ी जीवनी की चर्चा करेंगे।

. 'मानस', वालकाड, (गीता प्रेस सत्ताईसवांश गुटका, सं० 2014), पृ० 21।

. 'तुंचन-रामायण', वालकाड, पृ० 2।

(देवास्वम् वोर्ड प्रकाशन वर्प और सस्करण की क्रमसंख्या नही दी गई है)

तुलसी के जीवन वृत्त के आधार

बहिरग सामग्री—गोस्वामी तुलसीदास के जीवन के विषय मे जो बाह्य साक्ष्य हम प्राप्त होते हैं व सब एक प्रकार से असभव कहानियो के सग्रह मात्र हैं। इस प्रकार की पाँच पुस्तकें अब तक हम प्राप्त हुई हैं —

1 दो सौ बावन वष्णवन की वार्ता लखक गोस्वामी गोकुलनाथ समय स० 1625।
2 भक्तमाल लेखक नाभादास, स० 1642।
3 गोसाईं चरित, ले० वेनीमाधवदास समय स० 1687।
4 तुलसी चरित ले० बाबा रघुवरदास, समय अज्ञात।
5 भक्तमाल की टीका, ले० प्रियादास समय स० 1769।[1]

(1) दो सौ बावन वष्णवन की वार्ता म—नाभादास जी का तुलसीदास जी का छोटा भाई होना तुलसी का काशी स व्रज की यात्रा करना राम को छोडकर और किसी के सामने मस्तक न नवाने की उनकी प्रतिज्ञा उनकी गहरी भक्ति, काशी निवास व्रजयात्रा म विट्ठलनाथ से भेंट आदि बातें उल्लिखित हैं।"

इनमे से तुलसी का काशीवास रामभक्ति की तीव्रता इन दोनो बातो को छोडकर शेष सभी बातें अनतिहासिक एव प्राप्त प्रमाणो के विरुद्ध हैं। भक्तों का महत्व प्रतिपादन ही इस ग्रथ का एकमात्र लक्ष्य है। वार्ता को न तो तुलसीदास की मान मर्यादा का ध्यान है और न नददास की प्रतिष्ठा की चिन्ता।'[3]

(2) भक्तमाल—नाभादास की भक्तमाल म एक ही छद तुलसी के विषय में दिया गया है।[4] इससे केवल इतना ही समझ मे आ जाता है कि तुलसीदास

---

1 डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', ततीय बार 1954 पृ० 349।

2 'दो सौ वष्णवन की वार्ता' पृ० 28 35। डा० रामकुमार वर्मा द्वारा उद्धृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', त० बार पृ० 341।

3 आचाय चद्रवली पाडेय—तुलसीदास की जीवनभूमि प्रथम सस्करण सवत् 2011 पृ० 50।

4 'कलि कुटिल जीवनिस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो
त्रेता काव्य निबध करिय सत कोटि रमायन।
इक अक्षर उद्धरे ब्रह्म हत्यादि परायन।

जी अनन्य रामभक्त थे और विश्वहित के लिए स्वयं वाल्मीकि ने तुलसी रूप में अवतार ग्रहण किया था।

भक्तमाल पर प्रियादास की टीका (सन् 1713) अवश्य कुछ उपयोगी सामग्रियो से सपन्न है। इसमे तुलसी सम्बन्धी 88 पंक्तियाँ हैं। ये पंक्तियाँ कवि के जीवन की सात घटनाओ पर प्रकाश डालती है।[1] इसी मे उनकी पत्नी पर असीम आसक्ति, उसके द्वारा तिरस्कृत होने पर हमेशा के लिए वैराग्य स्वीकार करना, देशाटन, सामान्य जीवन, बुढापे मे फिर एक बार अपनी पत्नी का अप्रतीक्षित साक्षात्कार, हनुमान की कृपा से भगवान की दर्शन लब्धि, बादशाह जहाँगीर द्वारा करामात दिखाने की आज्ञा, तुलसी द्वारा उसका तिरस्कार, बंधन, हनुमान के प्रभाव से मुक्ति आदि अलौकिक बातो का समावेश पाया जाता है।

डा० रामकुमार वर्मा इस टीका को जनश्रुति का केवल लिखित रूप ही मान लेते हैं।[2]

(3) गोसाईं चरित—वेणी माधवदास कृत, 'मूल गोसाई' चरित मे तुलसी के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त की अनेक घटनाओ का तिथि सहित उल्लेख है। इसकी सारी सामग्री इस प्रकार सजाई गई है कि यह बिलकुल नवीन रचना प्रतीत होती है। इसकी प्रामाणिकता मे हिन्दी के अधिकतर विद्वानो ने पूर्णतया संदेह प्रकट किया है।[3] (श्यामसुन्दर दास जी ने इसको प्रामाणिक मानकर

अब भक्तनि सुख देन बहुरि लीला विस्तारी।
राम चरन रस मत्त रहत अह निसि व्रतधारी।
... ...
कलि कुटिल जीवन निस्तार हित वाल्मीकि 'तुलसी' भयो।

(भक्तमाल, पृ० 762)

1. 'This commentary devotes eighty eight lines of verse to Tulsidas. They mention seven separate events in the poet's life'. MacFie, 'The Ramayana of Tulsidas' (Ed. 1930) Introduction, p. 21.
2. डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', तृ० बार 1954, पृ० 358।
3. प० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', संशोधित और प्रवर्धित, छठा सस्करण (2007), पृ० 125-126।

इसके आधार पर गोस्वामी तुलसीदास नामक ग्रन्थ लिखा)[1] आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी मूल गोसाईं चरित का कथन अप्रामाणिक ही नहीं समझते प्रत्युत इस प्रसग म इसे उल्लेखयोग्य तक नही मानते।[2] इसमे सत्य, शिव सुन्दरम जैसी आधुनिक अभिव्यक्तियाँ तो पाई जाती हैं[3] फिर इसम डायरी की जो शैली अपनाई गई है वह भी बिलकुल आधुनिक ही है।[4]

इस पुस्तक म सवत 1616 म गोकुलनाथ का पत्र लेकर सूरदास के तुलसी से मिलने का वृत्तात दिया गया है। गोकुलनाथ जी का जन्म सवत 1608 म माना जाता है। जब उनकी अवस्था केवल आठ वष की रही होगी तब पत्र भेजना कैसे सभव हो सकता है।[5]

मीराबाई और तुलसीदास का पत्र-व्यवहार केशव और तुलसी का परस्पर सदभाव, केशव का एक ही रात मे रामचन्द्रिका लिख डालना आदि ऐतिहासिक दृष्टि से असगत बातें इसम भरी पडी है। तुलसीदास का जन्म लेते ही राम नाम का उच्चारण करना बत्तीसों दाँतो का होना लडकी को लडका बना देना विधवा स्त्री के पति को फिर से जिला देना आदि अनेक अलौकिक असभव घटनाओ का उल्लेख भी इस पुस्तक में पाया जाता है। इस पुस्तक के सम्बन्ध म डा० माताप्रसाद गुप्त लिखते है—

हमने मूल गोसाईं चरित मे आने वाले लगभग सभी प्रमुख साहित्यिक तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओ पर एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने का प्रयत्न किया है। किंतु हमने लगभग प्रत्येक स्थान पर देखा है कि

---

1 प० चन्द्रबली पाडे भी भवानीदास लिखित 'चरित' को प्रामाणिक समझते हैं और आपके अनुसार वास्तव में यह चरित्र उपेक्षा का पात्र नहीं तुलसी जीवन की कुजी है।'

—प० चन्द्रबली पाडे—'तुलसी की जीवन भूमि' प्रथम सस्करण पृ० 18।

2 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य', 1952 प० 228।

3 प रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (2007) पृ० 126।

4 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य' (1953) प० 229।

5 डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', तृतीय बार 1954, पृ० 353।

प्रके उल्लेख भ्रमपूर्ण है ।'[1] डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे 'इन सभी बातो कारण गोसाईं चरित की प्रामाणिकता के विषय मे सदेह है ।'[2]

(4) तुलसी चरित—सवत् १९३९ के ज्येष्ठ मास की 'मर्यादा' मे सर्वप्रथम सकी सूचना श्री इद्रदेव नारायण ने दी थी ।[3] इसके लेखक तुलसी के शिष्य वुवरदास माने जाते हैं । यद्यपि यह एक वृहत्काय ग्रन्थ कहा जाता था, तथापि सका अल्पमात्र ही अभी तक प्रकाश मे आया है । इसमे तुलसीदास के पितामह का नाम परशुराम मिश्र और पिता का नाम मुरारि मिश्र कहा गया । इसके अनुसार तुलसीदास ने तीन विवाह किए थे । इनमे से एक कचनपुर के पाध्याय लक्ष्मण की पुत्री बुद्धिमती के विवाह मे इन्हे छ हजार रुपया दहेज ो मिला था । कहने की आवश्यकता नही कि इस पुस्तक का किसी भी दृष्टि-ोण से कोई महत्व नही है । 'यह चरित नितान्त कल्पित और अप्रामाणिक ।[4] इसका जितना अश प्रकाशित हुआ है वही इसकी अप्रामाणिकता को यक्त करने के लिए पर्याप्त है ।[5]

अन्तरग साक्ष्य—ऊपर तुलसीदास के जीवन-संबन्धी बाह्य साक्ष्यो का जो ल्लेख हमने किया, उससे व्यक्त है कि कवि के वास्तविक जीवन-वृत्त को समझ ाने मे उनसे वहुत कम ही सहायता मिलती है । अन्तरग साक्ष्य के अन्तर्गत वि के ग्रन्थो मे दैन्य या आत्मनिवेदन के जो उद्गार आये है वही मुख्यतया ाए जाते हैं । कवि का जीवन-वृत्त स्थिर करने मे इनका स्थान सबसे अधिक हत्वपूर्ण है, यथास्थान इनका उल्लेख किया जाएगा । इस प्रकार प्राप्त सभी कार के प्रमाणो और विद्वानो के मतो के आधार पर तुलसी का जीवन-वृत्त क्षेप मे दिया जाता है ।

जन्म-तिथि—तुलसीदास की जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे विद्वानो मे काफी तभेद है ।

---

1. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीसंदर्भ', प्रथम संस्करण (1935), पृ० 33 ।
2. डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1954), पृ० 354 ।
3. प० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सशोधित और प्रवर्धित छठा सस्करण, स० 2007, पृ० 126 ।
4. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास' (तृतीय सस्करण 1953), पृ० 62 ।
5. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य' (1952), पृ० 229 ।

पश्चिमी विद्वान विल्सन[1] और तासी[2] ने उनका जन्म संवत 1600 माना है। शिवसिंह सेंगर के अनुसार तुलसी का जन्म संवत 1583 है।[3] मिर्जापुर के पंडित रामगुलाम द्विवेदी के विचार से सं० 1589 में तुलसीदास का जन्म हुआ।[4] डा० ग्रियर्सन ने भी यही मत स्वीकार किया है।[5]

कहते हैं शिवसिंह सेंगर ने गोसाई चरित के आधार पर ही अपनी तिथि निश्चित की थी। लेकिन कुछ विद्वान सेंगर के मत का जनश्रुति पर आधारित होना ही अधिक सम्भव समझते हैं।[6] आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं— "शिवसिंह सेंगर ने जिस पुस्तक को देखा था उसमें तुलसीदास जी के जन्म संवत का उल्लेख नहीं था। इसीलिये उन्होंने अनुमान के भरोसे लिखा था कि ये प्रायः 1583 के करीब उत्पन्न हुए थे।[7]

कुछ लोग बेनीमाधवदास कृत मूल गोसाई चरित के आधार पर संवत 1554 में तुलसी का जन्म मानते हैं।[8] लेकिन जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है यह मूल गोसाई चरित नामक पुस्तक ही सर्वथा अप्रामाणिक है।

घटरामायण के रचयिता संत तुलसी साहब ने अपने को गोस्वामी जी का अवतार माना है। उन्होंने अपने पूर्वजन्म की तिथि भाद्रपद शुक्ला 11

---

1 विल्सन— ए स्केच आव दि रिलिजियस सेक्टस आव दि हिंदूज' पृ० 41।

2 गर्सें द तासी— इस्त्वार द ला लितरेत्योर इंदुई ए इंदुस्तानी' जिल्द 3 पृ० 235। डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा उद्धृत तुलसीदास, तृ० सं० 1953 पृ० 131।

3 शिवसिंह सेंगर— सरोज', पृ० 427।
डा० रामकुमार वर्मा द्वारा उद्धृत हिं० साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास तृ० बार 1954 पृ० 352 टिप्पणी।

4 तुलसी ग्रन्थावली भाग 3 पृ० 18।

5 जी० ए० ग्रियर्सन— नोटस आन तुलसीदास' 'इंडियन एंटीक्वरी' सन् 1893 पृ० 264।

6 डा० माताप्रसाद गुप्त — तुलसीदास तृ० संस्करण 1953, पृ० 139।

7 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी— हिन्दी साहित्य 1952 पृ० 228।

8 प्रो० रामबहोरी शुक्ल— तुलसीदास तृ० संस्करण 1952 पृ० 7।
और जयरामदास दीन — मानस रहस्य (सप्तम सं० 2014) पृ० 510।

सवत् 1589 लिखी है। यह तिथि गणना मे ठीक उतरती है। जनश्रुति भी यही स्थिर करती है। अधिकतर आधुनिक अनुसंधानकर्ताओ की दृष्टि से भी यही ठीक है। डा० माताप्रसाद गुप्त के शब्दो मे—'यह अधिकाश मे सभवत: किसी प्राचीन स्वतन्त्र और निरपेक्ष परम्परा के साक्ष्य के अनुसार लिखा गया है, फिर इस तिथि को मानने मे कोई असभावना भी नही दिखाई पड़ती, इसलिए हम इस तिथि को कवि की जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे ग्रहण कर सकते हैं।'[1]

ऊपर के उल्लेखो से व्यक्त है कि जनश्रुति, परम्परा अधिकतर देशी और विदेशी विद्वानो की सम्मति आदि के आधार पर हम सवत् 1589 (सन् 1532) मे ही गोस्वामी जी का जन्म मान सकते है। आचार्य शुक्ल जी,[2] आचार्य चन्द्रबली पाडे,[3] डा० राजपति दीक्षित[4] आदि सभी विद्वान इसको प्रामाणिक मानते है। ग्रियर्सन,[5] मकफी,[6] हिल[7] आदि पाश्चात्य विद्वानो की भी यही धारणा है।

यत्र-तत्र गोस्वामी जी के ग्रन्थो मे उनके जीवन सम्बन्धी जो प्रस्ताव प्राप्त है, उसके आधार पर भी सवत् 1589 वाली तिथि ही ठीक जंचती है। तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ मे ही उसकी रचना-तिथि दी है—

---

1. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास', तृ० संस्करण, 1953, पृ० 140।
2. प० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', संशोधित और प्रवर्धित, छठा संस्करण, 2007, पृ० 126।
3. आचार्य चन्द्रबली पाडे—'तुलसीदास', नागरीप्रचारिणी सभा, सस्करण (2014), पृ० 10।
4. डा० राजपति दीक्षित—'सत तुलसीदास और उनके सदेश', प्र० सस्करण, (2010), पृ० 25।
5. Dr. Grierson—'Indian Antiquary', 1893, p. 264.
6. MacFie—'The Ramayana of Tulsi Das' (1930), Introduction, p. 14.
7. W.D.P. Hill—'The Holy Lake of the Acts of Rama', Introduction p. 1.

संवत् सोरह सौ इकतीसा । करउ कथा हरिपद धरि सीसा ।।
नौमी भौमवार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।।[1]

जन्म संवत 1589 म मानने पर व्यक्त होता है कि तुलसी ने अपनी 42 वर्ष की अवस्था में रामचरितमानस का प्रणयन आरम्भ किया । संवत् 1554 को स्वीकार करने पर मानस की रचना के समय कवि की अवस्था 77 वर्ष की ठहरती है । 77 वर्ष तक जीवित रहना और उतनी बड़ी अवस्था मे अत्यंत प्रौढ़ साहित्य का निर्माण करना सदाचारयुक्त संतो के लिए एकदम असम्भव न होने पर भी कुछ्छ असंभ्य अवश्य है ।

जन्म-स्थान—गोस्वामी तुलसीदास के जन्म स्थान के सम्बन्ध म भी विद्वानो म पर्याप्त मतभेद है । कुछ लोग इनका जन्म स्थान राजापुर मानते हैं और कुछ लोग सोरो । विल्सन तथा तासी दोनो ने हाजीपुर को तुलसी का जन्म स्थान माना । पं० रामबहोरी शुक्ल का विचार है कि राजापुर को ही उन्होंने भ्रमवश हाजीपुर लिख डाला क्योंकि, आपके अनुसार हाजीपुर नाम से आज कोई स्थान नही है । इसके अतिरिक्त राजापुर चित्रकूट से कोई दस कोस पर ही है । आप लिखते हैं—बांदा प्रान्त के राजापुर गांव को ही अधिक विद्वान प्राचीन परम्परा और अन्य प्रमाणों के आधार पर तुलसीदास की जन्मभूमि मानते हैं ।[3] आचार्य चन्द्रबली पांडे तुलसीदास का जन्म अवध म मानने के पक्ष म हैं । आप अवध प्रान्त म एक तुलसी चौरा का उल्लेख करते हैं और उसी को तुलसी का जन्म स्थान मानते हैं ।[4]

पं० रामनरेश त्रिपाठी,[5] पं० गौरीशंकर द्विवेदी,[6] श्री रामदत्त भारद्वाज[7]

---

1 मानस बालकांड—मानसमूल गुटका सत्ताईसवां संस्करण 2014 गीताप्रेस, पृ० 56 ।

2 ए स्केच आव दि रिलिजियस सेक्टस आफ दि हिन्दूज पृ० 41 ।

3 तुलसीदास तृतीय संस्करण 1952 पृ० 9, 10 ।

4 तुलसी की जीवन भूमि, प्रथम संस्करण 2011, पृ० 137 और 143 ।

5 तुलसीदास और उनकी कविता' पृ० 103 ।

6 तुलसीदास जी का जन्मस्थान सोरों, 'नीपद लम्ब साहित्य सदन', मई सन 1959, पृ० 492 ।

7 तुलसी चर्चा (सं० 1998) पृ० 13, 14 ।

आदि विद्वान इनकी जन्मभूमि सोरो मानने के पक्ष मे दृढ हैं। डा० दीनदयाल गुप्त भी उसका समर्थन करते हैं।[1] डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'जितनी सामग्री इस सम्बन्ध मे उपलब्ध हुई है उसकी परीक्षा करने से तुलसीदास की जन्म-भूमि का निर्धारण सोरो के पक्ष मे अधिक युक्तिसगत ज्ञात हो रहा है।[2] आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'सोरो के पक्ष मे दिये जाने वाले प्रमाण बहुत महत्वपूर्ण न होते हुए भी वजनदार है। उनको यो ही टाल नही दिया जा सकता···इस प्रकार सुचिन्तित नियोजना के अनुसार प्रमाणों की वृद्धि हुई तो तुलसीदास और नन्ददास का प्रश्न हमेशा के लिए धूमिल हो ही जाएगा।'[3] डा० रामदत्त भारद्वाज ने सोरो से प्राप्त प्राचीन पोथियो का फोटो भी प्रकाशित करते हुए सोरो को ही तुलसी की जन्मभूमि स्थापित करने की, अनेक प्रमाणो को उद्धृत करके, चेष्टा की है।[4] वर्षों से यह विद्वानो के बीच मे विवाद का विषय बना रहा है। सोरों के समर्थन मे 'इंपीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया' आदि का बार-बार उद्धरण भी दिया जाता है। पर अब तक विद्वानो मे इस विषय मे मतभेद बना ही रहता है। हम आशा करते हैं कि शीघ्रातिशीघ्र इस विवाद का अन्त हो जाएगा और हमारे सर्वश्रेष्ठ कवि के जन्म-स्थान के विषय मे एक निश्चित धारणा समस्त जगत् को प्राप्त हो सकेगी। फिर भी वर्तमान जानकारी के आधार पर निर्णय पर पहुंचना भी आवश्यक है।

'सूकरखेत' मे तुलसीदास का अवश्य सम्बन्ध रहा, इसके स्वय उनके वचन ही साक्षी है—

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी
कथा जो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन
तब अति रहेउं अचेत।[5]

---

1. 'सनाढ्य जीवन', तुलसीस्मृति अंक, सन् 1939, पृ० 68।
2 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', (1954), पृ० 361।
3 'हिन्दी साहित्य' (1952), पृ० 231-232।
4. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' 'सोरो-सामग्री', शीर्षक लेख, मई 3, 1959।
5 'मानस', बालकाण्ड—मूल गुटका, गीताप्रेस, सत्ताईसवा सस्करण, 2014, पृ० 53।

परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि सूकरखेत में ही उनका जन्म हुआ हो। गोस्वामी जी अपने बचपन में बिलकुल निराश्रय होकर घूमते फिरते रहे इसमें कोई मतभेद नहीं है।[1] भक्तजनों से उनका सम्पर्क भी रहा होगा। सूकरखेत वैष्णवों का पुण्यस्थान भी है। (आचार्य शुक्ल ने 'सूकरक्षेत्र' गोंडे जिले में सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ माना है दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास—छठा संस्करण पृ० 129)। अतः ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि तुलसीदास जी वहाँ कहीं से आ पहुँचे होंगे और सत्संग में भगवत् कथा सुनने का अवसर भी उन्हें प्राप्त हो गया होगा। सोरों और राजापुर के पक्ष-विपक्ष में जितने तर्क उपस्थित किए जाते हैं, सबका सम्यग निरीक्षण करने के बाद डा० माताप्रसाद गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

भले ही अपने 'बालपन' में अपने गुरु के साथ उन्होंने 'सूकरखेत' की यात्रा की हो तो भी सोरों से तुलसीदास का कोई निकट का सम्बन्ध प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर प्रमाणित नहीं होता है।' राजापुर के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—इनमें से किसी के पक्ष में इस प्रकार के साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं जो सर्वथा निर्णायक हों। यह अवश्य है कि प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार राजापुर के पक्ष में संभावना अधिक है।[2] आचार्य शुक्ल का भी यही मत है।[3] पश्चिमी विद्वानों की भी यही सम्मति है। जनश्रुति भी राजापुर को ही तुलसीदास की जन्म-भूमि मानती है।

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से हमने देख लिया है कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास के जन्मस्थान, जन्मतिथि आदि के विषय में कोई सर्वमान्य मत अब तक स्थिर नहीं किया जा सका है। किन्तु इतना तो निश्चित ही है, सन् ईस्वी की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उनका आविर्भाव हुआ था और अब उत्तर प्रदेश कहे जाने वाले स्थान में अधिक सम्भवतः राजापुर या उसके आस

---

1 मातुपिता जग जाय तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई
(तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड कवितावली पृ० 214)
द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ
(वही, विनय पत्रिका पृ० 599)

2 डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास तृतीय संस्करण 1953 पृ० 161।

3 वही पृ० 142।

4 प० रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', स० 2007 पृ० 131।

पास कही, इस महात्मा का जन्म हुआ होगा ।

माता-पिता—और गुरु तुलसीदास की माता का नाम था हुलसी ।[1] औ पिता थे आत्माराम दूबे । कुछ लोग पिता का नाम परशुराम मिश्र कहते हैं औ कुछ लोग अवादत्त । इनका जन्म ब्राह्मण कुल मे हुआ था । पहले इनका ना 'रामबोला' था[2] और पीछे तुलसीदास हो गया । बाल्यकाल मे ही निराश्रय ह गए । अपनी रोटियो तक के लिए इन्हें दर-दर घूमना पड़ा ।[3] अन्त मे गुरु नरहरिदास[4] के पास आ गये । इसी नरहरि ने सूकरखेत मे इन्हे रामकथ

---

1 रहीम का यह दोहा इस प्रसग मे उल्लेखनीय है—

'सुरतिय नरतिय नागतिय, सब चाहति अस होय ।
गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय ।

'मानस' मे ही यह प्रसंग द्रष्टव्य है—

'रामहि प्रिय पावन तुलसी सी, तुलसीदास हित हिय हुलसी सी'

प० रामनरेश त्रिपाठी 'हुलसी' शब्द तुलसी की माता का नाम न समझते । दे० 'तुलसीदास और उनकी कविता', पृ० 134, 135 ।

आचार्य चन्द्रवली पाडे 'हुलसी' तुलसी की पत्नी का नाम मान लेते है दे० 'तुलसीदास', संशोधित और प्रवर्धित संस्करण, स० 2014, पृ० 28

2 'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खड, 'विनयपत्रिका', पृ० 504 ।

3 वही, पृ० 599 ।

और वही, 'बरवैरामायण', पृ० 24 ।

4. 'कृपासिन्धु नर रूप हरि' (मानस मूल-गुटका, पृ० 34) के आधार प तुलसी के गुरु का नाम नरहरिदास मानना बहुत से विद्वान ठीक न समझते । देखिए सुश्री सी० वादवील का 'तुलसीदास कृत रामचरि मानस के स्रोत और उनकी रचना' शीर्षक लेख, अनुवाद वासुदेवशर अग्रवाल, ना० प्र० पत्रिका, संवत् 2015, अक, 2, पृ० 105 । ड माताप्रसाद गुप्त इस प्रसंग मे शकर का ही वर्णन समझते है । 'तुल सन्दर्भ', प्रथम संस्करण पृ० 150-151 । डा० राजपति दीक्षित का कह है, 'वस्तुतः नररूपहरि से गुरु का श्रेष्ठत्व ही दिखाना मानना चाहिए'- 'सत तुलसीदास और उनके सदेश', पृ० 11 ।

सुनाई थी ।[1] उस समय बालक होने के कारण ये उनका कथन ठीक-ठीक नहीं समझ पाते थे । इनका विवाह भी हुआ था । इनकी स्त्री का नाम रत्नावली बतलाया जाता है । कहा जाता है कि ये अपनी पत्नी पर अत्यधिक आसक्त थे । उसके उपालम्भ से आहतचित्त होकर इनका वैरागी हो जाना आदि बातें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । ये निस्सतान थे । इनका विवाहित होना कुछ लोगों के अनुसार गलत प्रवाद मात्र है । ये भले ही निस्सतान रहे हों पर यह कहना बिलकुल ठीक नहीं है कि ये अविवाहित थे । दोहावली में संकलित यह दोहा इस ओर संकेत करने वाला बताया जाता है ।

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग ।
कै खरिया मोहि मेलि कै विमल विवेक विराग ॥[3]

रत्नावली कहा जाने वाला दोहा का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है । जनश्रुति भी इनके विवाहित होने के अनुकूल है । जहाँ कहीं भी इन्होंने विवाहों का वर्णन किया है वहाँ से यह निःसन्देह व्यक्त होता है कि ये वैवाहिक विधि विधानों का अच्छा परिचय रखते थे ।

पर्यटन—विरक्त होने के बाद तुलसीदास ने देश के नाना भागों का पर्यटन किया ।[4] अयोध्या जगन्नाथपुरी रामेश्वर आदि तीर्थ स्थानों के भी उन्होंने दर्शन

---

1 मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा जो सूकरखेत—'मानस' बालकांड पृ० 53 ।

2 डा० माताप्रसाद गुप्त 'तुलसीदास' (1953) पृ० 175 ।

3 दोहावली दोहा 255 ।

हि० हिं० साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (तृ० बार 1954) पृ० 374 से 349 तक ।

4 तब बिन घनु बिन हुगो घनु

—तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड विनयपत्रिका, पृष्ठ 472 ।

मन्द महिम मनह देह भर कामदनु कलिकाली कमी, पृ० 470 ।

किए। विस्तृत पर्यटन के फलस्वरूप कवि को देश की वास्तविक स्थिति, जनता के जीवन, धर्म की दशा आदि का गहरा ज्ञान हो गया। इसके उपरान्त चित्रकूट मे आ पहुँचे और रामभजन करते हुए कुछ समय तक वही रहे। कहते है, हनुमान जी की कृपा से यही तुलसी को भगवान राम के दर्शन प्राप्त हुए।

उसके वाद गोस्वामी जी काशी आ पहुचे। काशी मे उनका आगमन-समय स० 1621 के कुछ पहले माना जाता है।[1] उनका स्वर्गवास भी यही हुआ था। काशी के अस्सीघाट, हनुमान फाटक, प्रह्लादघाट और संकटमोचन आदि स्थान उनके सामीप्य से सौभाग्ययुक्त माने जाते हैं।

मित्र—काशी मे गोस्वामी जी के दो प्रसिद्ध मित्र भी थे। एक थे गगाराम ज्योतिपी जिनके लिये उन्होने रामाज्ञाप्रश्न की रचना की। इस ज्योतिपी के वशजो के पास तुलसीदास का एक चित्र अव भी सुरक्षित है जो जहाँगीर के राज्यकाल का वतलाया जाता है।[2] (कुछ विद्वानो को इस चित्र को तुलसी के जीवनकाल की कृति मानने मे आपत्ति है)।[3] कवि के दूसरे मित्र थे परमभक्त टोडरमल। कहते हैं, टोडरमल की मृत्यु के उपरान्त गोस्वामी जी ने उनके पुत्रो मे वँटवारा कराया था। उस वँटवारे के पंचनामे का कुछ अ श तुलसीदास ने स्वय अपने ही हाथ से लिखा था। कहते हैं, काशीराज के सग्रहालय मे अव तक वह सुरक्षित है। गोस्वामी जी ने नरकाव्य न लिखने की प्रतिज्ञा की थी। केवल टोडर के लिए ही वे अपने इस प्रण से कुछ विचलित हुए। कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि और अकवर के सेनाध्यक्ष नवाव अव्दुररहीम खानखाना उनके मित्रो मे थे। उनके पुनीत आचरण, उदार दृष्टिकोण एवं उदात्त भक्ति-भावना से सव लोग उनकी ओर आकृष्ट हो गए थे। 'मानसिंह तथा कुछ अन्य राजा भी कवि के दर्शनो को जाया करते थे।'[4] राम के परमभक्त होते हुए भी साम्प्रदायिकता की गंध तक उनमे नही थी। 'सर्वदेवनमस्कार केशवं प्रति

---

1. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास', तृ० संस्करण, 1953, पृ० 177।
2. प्रो० रामवहोरी शुक्ल—'तुलसीदास', तृ० संस्करण, 1952, पृ० 18।
3. डा० माताप्रसाद गुप्त,—'तुलसीदास', तृ० संस्करण, 1953, पृ० 87।
4. इंडियन एंटिक्वेरी, सन् 1893, पृ० 272।

गच्छति यही उनका दृष्टिकोण था। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान अद्वैत सिद्धान्त के परम समर्थक मधुसूदन सरस्वती ने मानो मंत्रमुग्ध होकर कहा—

आनन्द कानने कश्चिज्जंगमस्तुलसी तरु।
कविता मंजरी यस्य रामभ्रमर भूषिता॥

विरोधी—काशी में कुछ संकीर्ण दृष्टि वालों ने गोस्वामी जी का विरोध भी किया।[1] कुछ तो जात-पाँत के आधार पर और कुछ शिव विष्णु आराधना के मतभेद पर। उनकी कवितावली[2] और विनयपत्रिका[3] में इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। शिव के आराधकों ने उनको कितना कष्ट पहुँचाया, यह भी उनकी कवितावली से व्यक्त हो जाता है।[4] यह तो सिद्ध ही है कि पंडिताभिमानी ब्राह्मणों ने ही उनकी निन्दा की।[5] वास्तव में गोस्वामी जी ने ब्राह्मण सेवा की महत्ता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। फिर भी ब्राह्मणों ने क्यों उनका विरोध किया? डा० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं—'संभवत: इस विरोध का कारण पंडितों का एक संकुचित स्वार्थ था। मानस रचना के अनन्तर उनकी पंडिताई कदाचित् जनसाधारण के लिए उतनी अनिवार्य न रह गई होगी जितनी उसके पूर्व थी।[6] देववाणी को छोड़कर 'भाखा' में भगवान् का चरित लिखना भी कट्टर पंडितों के विरोध का कारण हो सकता था।" जो भी हो, विरोधी और विरोध की गणना आज संसार में बाकी नहीं रह गई है। पर तुलसीदास तो 'कीर्तियस्य स जीवति।'

सम्मान—धीरे धीरे तुलसी की महिमा लोग समझने लगे। चारों ओर से उनका आदर बढ़ने लगा। इसके प्रमाण स्वयं उनकी कविता में ही उपलब्ध

---

1 डा० राजपति दीक्षित—'संत तुलसीदास और उनके संदेश' (2010) पृ० 12।
2 'कवितावली' उत्तरकांड 106 और 107।
3 विनयपत्रिका 76।
4 कवितावली', उत्तरकांड 135।
5 दि होली लेक आफ दी एक्ट्स आफ राम' इन्ट्रोडक्शन, पृ० 10।
6 तुलसीदास तृतीय संस्करण 1953 पृ० 182।

हैं।[1] लोक सम्मान से उनके पवित्र हृदय मे गर्व का लेश भी उत्पन्न नही हुआ।[2] वे लोक मान्यता को साधना के पक्ष मे बाधक ही समझते थे। 'लोक-मान्यता अनलसम करतप कानन दाह।' वे विघ्न-बाधाओ से हिलने वाले जीव नही थे। रामोपासक को कौन त्रास पहुँचा सकता है ?

'कौन की त्रास करै तुलसी जो पै
राखि है राम तो मारि है कोरे।' (कवितावली)

जिसे रघुनाथ की कृपा प्राप्त है क्या वह किसी से डरनेवाला है ? वह सदैव अभय ही रहता है—

'जो पै कृपा रघुपति कृपालु की
वैर और के कहा करै।
तुलसिदास रघुवीर बाहुबल
सदा अभय काहू न डरे।' (विनयपत्रिका)

'गोस्वामी' उपाधि—कुछ विद्वानो का अनुमान है कि तुलसीदास जी, काशी मे किसी मठ के महंत भी रह चुके हैं। उनकी 'गोस्वामी' उपाधि इसी की ओर संकेत करती है। लोलार्क कुंड (काशी) मे संवत् 1797 तक 'एक तुलसीदास मठ' का वर्तमान रहना भी कहा जाता है।[3] 'सैद्धान्तिक दृष्टि से तुलसीदास वैष्णव मत की अपेक्षा स्मार्तमत के अधिक समीप दिखाई पड़ते हैं। स्मार्तो मे दशनामी सन्यासियो ने 'गोसाईं' शब्द अपने नाम के साथ लगाया था, अतएव तुलसी के नाम के साथ भी यह शब्द जुड गया है। वे अन्त तक स्मार्त नही बने रहे, पीछे वैष्णव हो गए। शिवसेवको का उनके प्रति विरोध

---

1. 'पतित पावन राम नाम सो न दूसरो
सुमिरि सु भूमि भयो तुलसी सो ऊसरो', 'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खड, 'विनयपत्रिका', पृ० 501।
'घर घर मागे टूक पुनि भूपति पूजे जाय', वही, 'दोहावली', पृ० 114।
2 'भाषा भनिति मोर मति भोरी। हसिबे जोग हँसे नहि खोरी।' (मानस बाल-काड—'मूल गुटका', सत्ताईसवा संस्करण, गीता प्रेस, पृ० 40); 'कवितु विवेकु एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे' (वही पृ० 41)।
3. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास' (1953), पृ० 190।

भी इसी कारण माना जाता है।[1] प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी तुलसी का काशी मे महत बनकर रहना प्रामाणिक ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में डा० राजपति दीक्षित का विचार है कि वृन्दावन मे तुलसीदास का विट्ठलनाथ जी के साथ सगम हुआ हो, तत्परिणामस्वरूप इनकी प्रतिष्ठा आदि के लिए विठ्ठलनाथ जी ने इन्हें गोस्वामी जी की उपाधि से भूषित किया।'[2] अब तक उनके महत्व के कारण लोगों द्वारा दी हुई एक उपाधि ही यह 'गोसाई' शब्द समझा जाता रहा है। कुछ लोगो की दृष्टि मे त्यागी और परम धर्मात्मा तुलसीदास का वहीं का मठाधीश बन जाना ही असमव है।

जीवन का सायकाल—इस भावुक महात्मा के जीवन का सायकाल अत्यन्त कष्टपूर्ण परिस्थितियो मे गुजरा। उनका शरीर विविध रोगो से ग्रसित हो गया। उनकी परवर्ती रचनाओ मे—विशेषत दोहावली और कवितावली मे इसका सकेत व्यक्त करने वाले बहुत से पद पाए जाते हैं। दोहावली' मे व्यक्त किया गया है कि वे बाहु पीडा से अत्यन्त पीडित हो गए थ, तत्परिहाराय हनुमान जी से प्रार्थना भी करते लक्षित होते हैं।[3] बाहुक मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कलिकाल की करालता और उसके प्रति उनका मानसिक विक्षोभ विनयपत्रिका और कवितावली मे स्पष्ट झलकता है। अपने जीवन के अतकाल के आसपास तुलसीदास जी बरतोड मे पीडित हुए थे। एक बार वह ताऊन का उत्पात भी सहना पडा। समवत बरतोड से ही उनका देहान्त हो गया।

---

1 डा० माताप्रसाद गुप्त तुलसीसदम, प्रथम सस्करण 1935, तुलसीदास'—के नाम के साथ लगे हुए गोसाई शब्द का रहस्य, 'शीर्षक लेख', प० 18।

2 'सत तुलसीदास और उनके सदश (स० 2010), पृ० 39।

3 तुलसी तनु-सर सुख-जलज भुज रुज गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिये कपि केसरी किसोर॥
(तुलसी ग्र थावली दूसरा खड, दोहावली पृ० 124)।
'भुज तरु-कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस
विहगराज-वाहन तुरत, काढिय मिटइ कलेस',
(वही दूसरा खड दोहावली', पृ० 124)

मृत्यु-तिथि—गोस्वामी जी की मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध मे यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत् सोलह सौ असी, असी गग के तीर ।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजे सरीर ।

'मूल गोसाईं चरित' मे लिखा है—

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर ।
सावन स्यामा तीज शनि, तुलसी तजे सरीर ।

गोस्वामी जी के मित्र टोडर के वशज इसी दूसरी तिथि को उनकी बर्सी मनाते हैं। अधिकतर विद्वान इसी को उनका महाप्रयाण दिन समझते हैं।

तुलसीदास के जीवन से सम्बद्ध अनेक अलौकिक घटनाओं की बातें भी जनता में खूब प्रचलित हैं। ये बाते प्रयोजन की दृष्टि से अधिक सगत प्रतीत न होने के कारण इनका वर्जन ही हमने अभिलषणीय समझा है। जनश्रुतियाँ तभी उपादेय हो सकती हैं जब पुष्ट अत.साक्ष्यों के आधार पर उनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाय। जनश्रुतियो की अपराराशि के बीच से सत्य का अंश खोज निकाला जा सकता है, पर वह कार्य अत्यन्त सतर्कता और सावधानी के साथ किया जाना चाहिये। कभी-कभी जनश्रुतियो के आधार पर भी पुस्तकें लिखी गई हैं। इनकी उपयोगिता का सर्वांशत. तिरस्कार नही हो सकता किन्तु यह अवश्य विचारणीय रह जाता है कि इनमें सत्य की मात्रा कहाँ तक है। भारतवर्ष मे महान् पुरुषो के जीवन के साथ अतिमात्र अलौकिक घटनाओ को जोड देना एक बहुत पुरानी प्रथा है। केवल भारतवर्ष की ही बात नही, प्रत्युत समस्त मानवजाति की, एक प्रकार की आराधना-प्रवणता से जन्य, सामान्य मनोवृत्ति है।

तुंचन का जीवन-वृत्त

ऊपर हमने तुलसीदास के जीवन-वृत्त सम्बन्धी प्राप्त सामग्री के आधार पर विद्वानो के विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया। आगे मलयालम के प्रसिद्ध भक्त-कवि तुंचन, जिनके साथ हम तुलसी की तुलनात्मक चर्चा करने जा रहे हैं, का जीवन-वृत्तान्त सक्षेप मे उपस्थित किया जायगा।

जैसे तुलसीदास के सम्पूर्ण और समग्र जीवन-चरित्र की सामग्री अब तक अनुपलब्ध है उसी प्रकार तुंचन की भी सम्पूर्ण और सम्मान्य जीवनी की सामग्री

भी अब तक देखने में नहीं आई है। इनकी जीवनी की जानकारी के लिए भी हमें जनश्रुतियों और इधर-उधर बिखरे हुए अन्त साक्ष्य बाह्य साक्ष्य का ही अवलम्बन करना पड़ता है। जनश्रुति अधिकतर इनकी निम्नांकित पर कन्द्रित है।

जन्म तिथि—तुंचन की जन्म तिथि क सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मत भेद है। डा० बनल न उनका जन्म सन ईस्वी का सत्रहवीं शताब्दी में माना है।[1] पर किसी पुष्ट आधार पर उन्होंने यह तिथि निश्चित की, यह उनक लेख स व्यक्त नही होता।

श्री विलियम लोगन न 'मालाबार मनुवल' में यद्यपि कोई निश्चित जन्म तिथि नही दी है तथापि वे तुंचन को ई० की सोलहवी शताब्दी क अन्त में वतमान मानन क पक्ष में है।[2]

कहा जाता है कि डा० बनल न कवि तुंचन के समाधि-स्थान (चिन्दूर गुरुमठम कोच्चिन स्टेट) का सन्मान करते तात्कालीन जनश्रुति के आधार पर अपना मत स्थिर किया था। प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान डा० गुंडट न भी तुंचन का समय सत्रहवी शताब्दी ही माना है।

किन्तु केरल के विद्वानो का मत इससे बिलकुल भिन्न है। श्री कोवुण्णि नेडुंगाडी ने इनका समय ईस्वी की पद्रहवी सदी माना है।[3] श्री पी० गोविन्द पिल्लाई पद्रहवीं शताब्दी के अन्तिम या सोलहवी के आरम्भ म मानने के पक्ष म हैं।[4] ये सभी विद्वान अपने मन्तव्यो को, इस विषय म, अकाट्य प्रमाणो पर प्रस्तुत करते नही दिखाई दे रह हैं। श्री शंकरन एलुत्तच्छन ई० सन् 1525 और 1625 के बीच क समय को कवि का जीवनकाल समझते

---

1 Dr Burnell— Trubner s American and Oriental Literary Record January Number 1871 page 78

2 William Logan— Malabar Manual (1887) Vol I p 92 94 First Edition

3 भाषा चरित्रम् (प्रथम स०, सन् 1881), वाल्यूम I, पृ० 174-175।

4 वही।

हैं ।[1] केरल के प्रसिद्ध समालोचक श्री पी० के० नारायण पिल्ले,[2] श्री आर० नारायण पनिक्कर,[3] महाकवि उल्लूर परमेश्वर अय्यर[4] आदि प्रसिद्ध विद्वान् तुंचन का समय ईस्वी की सोलहवी शती मे ही स्थिर करते हैं । अब तक प्राप्त प्रमाणो के आधार पर इनका निर्णय ही सर्वमान्य समझा जाता है ।

इतने से व्यक्त हैं कि हमारे कवि के जन्म-काल के सम्बन्ध मे कोई निश्चित तिथि अभी तक उपलब्ध नही है । तुलसी का तो जन्म-संवत् 1589 प्राय. निश्चित माना जा सकता है । पर तुंचन के विषय मे कोई वर्ष प्रामाणिक रूप से सूचित नही किया जा सकता । निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी मे ये वर्तमान रहे हैं ।

जन्म-स्थान—सौभाग्य से तुचन के जन्म-स्थान के विषय मे विद्वानो मे विशेष मतभेद नही है । उनका जन्म मलाबार जिले के 'पोन्नानी' तालुक के तृकटियूर' अश मे हुआ था । उनके गृह का स्थान अब 'तुंचन-परपु' (परंपु का अर्थ है 'बाडा') कहा जाता है । वहाँ पर अब एक छोटा सा 'मठ' दृष्टिगत होता है । कहते हैं, यह मठ (मकान) पीछे उसी स्थान पर बनाया गया है जहाँ कवि का भवन स्थित था । लोग उस स्थान को तीर्थ-सा पवित्र समझने लगे है । वहाँ की धूल शिशुओ के विद्यारम्भ सस्कार के लिये अत्यादरपूर्वक काम मे लाते है ।[5] लोगो का विश्वास है कि 'तुचन-परम्पु' की धूल से विद्यारम्भ कराने पर बच्चे पढने मे तेज निकलते है । वहाँ पर एक 'काजिरवृक्ष'[6] अब

1. 'तुंचत्तेलुत्तच्छन' (तीसरा संस्करण, 1955' पृ० 20 ।
2. 'तुंचत्तेलुत्तच्छन' (द्वितीय मुद्रण, 1958), पृ० 19 ।
3. 'रामानुजन् एलुत्तच्छन' (सस्करण का विवरण नही दिया गया है, 1955) पृ० 7 ।
4 'केरल साहित्य चरित्रम्' (प्रथम संस्करण, 1954), भाग 2, पृ० 495 ।
5. केरल मे पुराने जमाने मे प्रथमत धूल या चावल में 'हरि श्री गरणपतये नम' लिखाकर शिशुओ का विद्यारम्भ कराया जाता था । विद्यारम्भ के बाद लिखने के लिये तालपत्र काम मे आता था । अब तालपत्र के स्थान पर कागज आया है परन्तु धूल के स्थान पर और कोई वस्तु नही आई ।
   —Dr C A. Menon, Ezhuthacchan And His Age. First Edition, 1941.
6. एक वृक्ष विशेष जिसके पत्ते, फूल, फल सब अत्यन्त कडुए होते हैं । (तुंचन की स्मृति मे उक्त स्थान पर हाल ही मे एक मनोहर प्रासाद बनाया गया है; उनकी जयती भी प्रति वर्ष मनायी जाती है ।)

भी वतमान है, जिसके बारे म जनश्रुति है कि उसी की छाया म प्राचाय ध्यान मग्न बठा करते थे। उस प्रकार का एक वक्ष तीन सौ वष तक साधारणत खडा नही रह सकता यह भी समझ लेना भक्ति के भावावेश के कारण लोग पसन्द नही करते।

माता पिता—तु चन क माता पिता के बारे म भी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। हमारे देश म ब्राह्मणेतर वश म उत्पन्न महात्माओं का जन्म सबध किसी ब्राह्मण या देवता से जोड देना एकदम अपरिचित घटना नही है। कहते हैं तु चन की माता उस जाति की महिला थी जिसका वश परम्परागत व्यवसाय तेल पेरना है। यह जाति नायरजाति' के अन्तगत मानी जाती है। यद्यपि नायर जाति का स्थान उच्च माना जाता है तथापि अपनी सामाजिक दुबलता या आर्थिक विवशता के कारण यह जाति निम्न मानी जाती रही।

जन्म-सम्बन्धी कथा—हमारे कवि के जन्म की कहानी अत्यन्त विचित्र तथा रोचक है। कहते हैं कि एक दिन एक ज्योतिषी ब्राह्मण त्रिवेन्द्रम (दक्षिण) से 'मुरजपम[1] म भाग लेने के बाद वटक्कनाडु (उत्तर करल मलाबार) आ पहुँचे। रात होने वाली थी। आस पास कहीं ब्राह्मणों का घर न दिखाई पडने के कारण वह कवि की माता के घर म रात बिताने के उद्देश्य से प्रविष्ट हुए। ब्राह्मण देवता का घर म यथोचित सत्कार हुआ। रात बहुत बीतने पर भी ब्राह्मण को नींद न आई। वे बीच-बीच में आँगन म टहलते और तारकाकीर्ण नभमडल की ओर देखते रहे। कारण पूछने पर बताया गया कि उस दिन पुत्रोत्पत्ति का एक असुलभ मुहूर्त है और अपनी पत्नी से दूर रहने के कारण वह सुयोग व्यथ जाता है वह इसी स बहुत व्याकुल हैं। स्त्री की प्रार्थना के अनुसार ब्राह्मण देवता ने पुत्रोत्पत्ति स उस साध्वी को अनुगृहीत किया और फलस्वरूप जो बच्चा पैदा हुआ वही पीछे एलुत्तच्छन के नाम से विख्यात हो गया।

कथा यहीं तक समाप्त नहीं होती। माता अपने पुत्र के साथ अकेली रहती

---

1 'मुरजपम् त्रिवेन्द्रम के प्रसिद्ध पद्मनाभ स्वामी मन्दिर म ट्रावनकोर के महाराजा मार्ताण्डवर्मा (17 वीं सदी) द्वारा आयोजित एक धार्मिक समारोह है जिसमें चारों वेदों का अध्याहृत पाठ किया जाता था।

थी। शिशु अलौकिक-ज्ञान-सम्पन्न था। एक दिन माता पुत्र को साथ लिए मंदिर मे दर्शनार्थ चली गई। ब्राह्मणो का गलत वेदोच्चारण सुनकर बच्चे ने 'वन-वन' कहा। ब्राह्मणो ने उसे असाधारण बालक समझकर, उसके बड़ा होने पर संभावित आपत्ति की चिन्ता करते हुए अभिचार प्रयोग पूर्वक 'प्रसाद' दिया। तबसे बच्चा मूक ही रह गया। एक बार 'परदेश' से जब ब्राह्मण पिता आये तो उन्होने अभिचार दोष के परिहार के लिए पुत्र को मदिरा पिलाई। लोगो का कहना है कि पीछे मदिरापान करते समय ही तुंचन के मुँह से कविता कल्लोलिनी फूट पड़ती थी। उनकी रचनाओ से अत्यन्त प्रवाहमयी तथा प्रसाद-गुण पुष्कल अनेक प्रसंगो को लोग एतदर्थ उद्धृत भी करते है।

तुंचन की जन्म संबंधी इस किंवदन्ती का कोई आधार नही है। यह बिलकुल भ्रामक तथा किसी की कपोलकल्पना मात्र है। जिस तथाकथित 'मुरजपम्' के आधार पर इस अतिरंजित कहानी की भित्ति खडी कर दी गयी है उसका आरम्भ ही हमारे कवि के जन्म के एक शताब्दी के बाद ही होता है। इतना ही नही, तुंचन का यह गृह अनेक विद्वानो का भद्र-भवन भी था। कवि ने अपने रामायण के प्रारम्भ मे अपने बडे भाई की वंदना की है जो 'विदुषामग्रेसर' एव 'शिष्यजन परिवृत्त' कहा गया है।[1] ऐसी स्थिति मे कैसे विश्वास किया जाय कि एक सद्वंश की महिला, सो भी विवाहिता तथा पुत्रवती, एकदम एक अपरिचित पुरुष से संतान की प्रार्थना करने लगे। इतना ही नही, समीप मे ही बहुत से ब्राह्मण-भवनो के रहते ही आगन्तुक का एक 'नायर' के गृह मे आश्रय ढूँढना तत्कालीन सामाजिक स्थिति की दृष्टि से असम्भव है। इस जाली कथा का कुछ अन्तर के साथ एक अन्य रूप भी प्रचलित है। बेसिरपैर की किंवदन्ती की अधिक चर्चा ही व्यर्थ है। केरल के किसी भी विद्वान ने इसको मान्यता नही दी है। साधारण जानकारी की आवश्यकता को दृष्टि मे रखकर ही हमने इसको यहाँ देना उचित समझा है।

डा० अच्युत मेनोन के अनुसार महाकवि की कीर्ति से असहिष्णुता रखने वाले कुछ लोगो ने इस मूर्खतापूर्ण वार्ता को सोद्देश्य और मनोयोगपूर्वक प्रचारित किया है। प्रसिद्ध पडित महाकवि रायसाहब उल्लूर परमेश्वर अय्यर का मत

---

1. तुंचन—'रामायणम्', प्रथम देवस्वं संस्करण, पृ० 3, वर्ष नही दिया गया है।

है कि तु चन के जन्म के बारे में प्रचलित सभी कथायें गलत हैं । क्योंकि उनका गृह 'वदुप्य घ्य' तो था ही, अत बाहर से किसी को उनके पितपद के लिए लाने की कोई आवश्यकता नहीं है ।[1] श्री आर० नारायण पनिक्कर भी बहुत कुछ उनके विचार से सहमत हैं और भेद केवल इतना ही है कि वे एक 'नायर' को ही तु चन का पिता समझते हैं । कुछ लोग प्रसिद्ध ज्योतिषिक नीलकठ सोमयाजी को उनका पितपद दना चाहते हैं जो ठीक नहीं है । नीलकठ को श्री पी० के० नारायण पिल्लाई ने तु चन का गुरु माना है । (एलुत्तच्छन के कहे जाने वाले 'हरिनाम कीतन' म 'नीलकठगुरु' का नाम लिया भी गया है । श्री पी० क० के अनुसार समवत 'हरिनाम कीतन' के श्लोक के आधार पर पीछे से लोगो ने नीलकठ और तु चन म पित-पुत्र सबध जोड दिया हो ।

तु चन की कवित्व शक्ति के अव्याहत प्रभाव के साथ मदिरापान का जो सम्बन्ध जोडा जाता है वह सवथा अवास्तविक एव असगत है । वास्तव म वे उच्चकोटि के सत महात्मा थे । उनके ऊपर यह आरोप किसी प्रकार लगाया नहीं जा सकता । अपनी रचनाओं म सवत्र उन्होने मदिरापान की घोर निन्दा की है ।

नाम—तु चन के वास्तविक नाम के विषय म भी विद्वानों म मतैक्य नहीं है । इनके चार नाम बतलाये गये हैं । (1) शकरन (2) सूयनारायणन (3) रामानुजन और (4) रामन । इनमें से शकरन नाम की उपपत्ति किसी को स्वीकाय नहीं है । सूयनारायणन इनके शिष्य का नाम है । रामन् और रामानुजन् ये दो ही शेष रह गय हैं । श्री आर० नारायण पनिक्कर के अनुसार कवि का वास्तविक नाम है रामन् और 'रामानुजन' पीछे का दिया हुआ है ।[3] पी० के० नारायण पिल्लाई[4] तथा डा० अच्युत मनोन[5] दोनो तु चन का नाम अज्ञात समझते हैं । श्री टी० क० जोसफ का मत भी पनिक्कर के मत से

---

1 कर साहित्य चरित्रम्, भाग 2 प्रथम सस्करण 1954, पृ० 483 ।
2 रामानुजन एलुत्तच्छन (सस्करण 1955) प 19 ।
3 'रामानुज एलुतच्छन' (सस्करण 1955) पृ० 22 ।
4 एलुत्तच्छन', द्वितीय मुद्रण 1958, जनवरी प० 8 ।
5 एलुत्तच्छन एण्ड हिम एज 1940 पृ० 56-57 ।

अनुकूल है[1] महाकवि उल्लूर के मत से शैशव का नाम था 'राम', सन्यास ग्रहण करने के वाद का 'रामानन्द' और पीछे 'रामानंद' ही 'रामानुज' मे परिवर्तित हो गया ।[2]

इसमे तो सदेह नही है कि तुंचन के एक विख्यात विद्वान भाई थे जिनका नाम भी 'राम' ही था । महाकवि परमेश्वर अय्यर इस राम को तुंचन की माता की वहिन का पुत्र समझते हैं, पर इसका कोई प्रमाण वे नही देते । पनिक्कर तुचन के ज्येष्ठ भ्राता का नाम 'रामन्' नही समझते और रामन् को उसका आचार्य मात्र समझते हैं ।

इस झमेले के वीच से सत्य को पकड लेना वहुत ही कठिन कार्य हो गया है । एक वात तो ठीक है कि हमारे कवि के लिए 'तु चत्त् रामानुजन एलुत्तच्छन' नाम वहुत समय से व्यवहृत होता आ रहा है । सन् 1843 मे प्रकाशित 'केरलोत्पत्ति' मे भी यही नाम उनके लिये प्रयुक्त हुआ है । जनश्रुति और परम्परा भी इसी के अनुकूल है । अत यही नाम व्यावहारिक दृष्टि से स्वीकार कर सकते हैं ।[3]

जीवन-लीला—तुलसीदास की जीवन-लीला के वारे मे जितना हमे ज्ञात है उतना तुंचन के वारे मे नही । फिर भी प्राप्त सामग्री के आधार पर जो कुछ ज्ञात है नीचे दिया जाता है—

तु चन वडे ही भावुक एवं सात्विक वृत्ति के व्यक्ति थे, अतः वाल्यावस्था मे ही पुण्यतीर्थो के दर्शन एवं विद्योपार्जन के लिये वे घर से निकल पडे । कहते हैं कि तीस वर्ष की अवस्था तक वे देशाटन करते रहे । कहाँ-कहाँ गये, और कहाँ-कहाँ ने विद्याध्ययन किया, इस विषय मे हमारा ज्ञान नही के वरावर

---

1. 'साहित्य परिषत् त्रैमासिक', नम्वर 1, 1933, पृ० 388, 98 ।
2 'केरल साहित्य चरित्रम्', भाग 2, प्रथम संस्करण 1954, पृ० 493 ।
3. 'तुंचत्तु' हमारे कवि के कुटुम्व का नाम है और 'एलुत्तच्छन' शव्द का मतलव है, एलुत्त्=विद्या (लेटर्स), अच्छन=पिता (आचार्य) अच्छन प्रा० अज्ज, अय्य स० आर्य । मलयालम मे अच्छन शव्द ही पिता के लिये व्यवहृत होता है । तमिल मे 'अय्य' आदरसूचक शव्द है । एलुत्तच्छन का शव्दार्थ है 'विद्या के पिता'—साहित्याचार्य (फादर्स आफ लेटर्स) आजकल यह 'एलुत्तच्छन' शव्द एक जाति-विभाग का नाम हो गया है ।

है। सदेह नहीं कि देशाटन के कारण उनका ज्ञान और अनुभव बहुत बढ़ गया। इसी अवसर पर संस्कृत के अतिरिक्त तेलुगु आदि द्रविड़ भाषाओं के अध्ययन का भी उन्हें सुयोग मिल गया। वेदान्त पुराण आदि के अतिरिक्त उन्हें तन्त्र शास्त्र आयुर्वेद आदि विविध विधाओं में गहरा ज्ञान प्राप्त हुआ। कुछ लोगों का अनुमान है कि इसी बीच में उन्होंने किसी वैष्णव आचार्य से संन्यास भी ग्रहण किया।

घर लौटने के बाद वे सारा समय अध्ययन अध्यापन, ग्रन्थ निर्माण और भगवद्भजन आदि कार्यों में ही निरत रहे। जनश्रुति है कि कुंचन की श्री देवी नाम की लड़की भी थी और उसी के लिए उन्होंने किरातम् की रचना की। किन्तु किरातम् कर्तृत्व के विषय में विद्वानों में मतभेद है और कवि का विवाहित होना भी उसी प्रकार संदिग्ध ही है।

वे पक्के वैष्णव थे और उनका चित्त अत्यन्त निर्मल और उदार था। भगवत्प्रेम और उपासना में ही उनकी आत्मा को तृप्ति मिलती थी। लौकिक सुखों से उन्हें पूर्ण विरक्ति थी। पर लोक कल्याण उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। उनकी स्नेहधारा केवल मनुष्य तक सीमित नहीं थी बल्कि छोटे बड़े सभी प्राणियों तक वह व्याप्त था। इस सम्बन्ध में अनेक अद्भुत कहानियाँ भी प्रचलित हैं। अपने शुद्ध सेवामय जीवन में उन्होंने अपने तथा परवर्ती समय की समस्त जनता का आदर प्राप्त किया। उस समय के प्रायः सभी विद्वान उनके घनिष्ट मित्र थे। उनमें 'नारायणीयम' के रचयिता संस्कृत के प्रसिद्ध कवि नारायण भट्ट का नाम विशेषरूप से लिया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि कांचिकट के राजा अमृरिन कुंचन के शिष्य थे। जनश्रुति के अनुसार चेंपकशेरि राजा की आज्ञा के अनुसार इन्होंने अध्यात्मरामायण के अनुसार मलयालम में रामायण की रचना की।

कुछ दुर्जनों का उपद्रव भी उन्हें सहना पड़ा। परन्तु धीरे धीरे वे उनके लिये भी आदरणीय हो गये। सत्य और सुन्दर का असत्य और असुन्दर पर विजय अनिवार्य ही है।

चिट्टर गुरुस्ठम —कुंचन के नाम से सबद्ध 'यह गुरुमठम चिन्टूर तालुक कांचिन स्टेट में है। डा० ए० सी० बनल ने सन 1866 में इसका सर्वेक्षण करके उसकी तत्कालीन स्थिति का वर्णन किया है। धनु[1] महीने के

---

1 दिसंबर 14 से यह महीना आरम्भ होता है।

'उत्रम्' नक्षत्र के दिन मे अब भी यहा कवि की वर्षी मनायी जाती है। उनकी समाधि भी यही सुरक्षित है।

इस अग्रहार के स्थापक के विषय मे भी मतभेद है। कुछ लोग इसे स्वयं एलुत्तच्छन द्वारा स्थापित मानते है और कुछ लोगो की दृष्टि मे इसकी स्थापना उनके शिष्य सूर्यनारायण द्वारा हुई। मठ की स्थापना से संबद्ध चार श्लोक प्रसिद्ध हैं जिनमे से एक का यहा दिया जाना अप्रासंगिक नही होगा—

आचार्य. प्रथम नदी वनमिद दृष्ट्वा (मुद) प्राप्तवान्
नद्यास्तीर (वनप्रदेश) वसति निश्चित्य शिष्यै समम्।
लब्ध्वा तद्वनमत्र देशपतिभिश्चित्वा (समस्त गुरु)
रामानदपुराभिध द्विजगृहैर्ग्राम चकारालयै. ॥

महाकवि उल्लूर परमेश्वर अय्यर ने अनेक प्रबल प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'रामानदाग्रहार' के संस्थापक स्वयं तुंचन ही थे।[1]

शिष्य—तुचन के चार प्रमुख शिष्य माने जाते है। शिष्यो सहित गुरुवदना सबधी एक श्लोक प्रसिद्ध है—

वदेऽहं गुरुसप्रदायमनिश तुंचत्त् श्रीमद्गुरुम्
वदे श्री करुणाकर च परम श्री सूर्यनारायणम्।
वदे देवगुरु परापरगुरू गोपालश्रीमद्गुरुम्
वंदे नित्यमनन्तपूर्णममल वदे समस्तान्गुरून् ॥[2]

इनमे से सूर्यनारायण बडे प्रतिभाशाली थे। 'स्कादपुराण' इनकी रचना है। करुणाकर ने 'ब्रह्माडपुराण' लिखा।

एक सामान्य दृष्टि—ऊपर हमने तुलसीदास और तुचन के जीवन की एक झाकी भर पाई है। उससे यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि दोनो असाधारण प्रतिभासपन्न महात्मा थे। पडित-मूर्ख के भेद बिना सब लोग उनका आदर करते थे। लौकिक सुख-समृद्धि मे दोनो को बिलकुल आसक्ति नही थी। इसी उच्चकोटि के वैदुष्य तथा पुनीत जीवनचर्या से प्रभावित होकर तुलसीदास को भावप्रवण जनता ने वाल्मीकि का अवतार माना है और तुंचन को गवर्व का।

1 'केरल साहित्य चरित्रम्', भाग 2, प्रथम सस्करण, 1954, पृ० 492।
2. इस श्लोक के एक शब्द के अश को थोडा परिवर्तित करके हमने उसके मलयालम रूप को सस्कृत कर दिया है।

महात्माओं के जन्म आदि के पीछे असम्भव एवं अतिरंजित कहानियां को जोड़ देना भारत में बिलकुल साधारण सी बात है। व्यास, वाल्मीकि कालिदास आदि के बारे में भी ऐसी कितनी अर्थहीन किंवदन्तियां प्रचलित हैं। अनेक जनश्रुतियां भी महात्माओं के बारे में पाई जाती हैं। आधुनिक दृष्टि से सामान्यतः अनुपयुक्त समझकर हमने सबका संकलन नहीं किया है। हमारा किसी महापुरुष की अलौकिक क्रियाओं से उतना संबंध नहीं है। उनकी लौकिक क्रियायें ही हमारे लिए उपयोगी सिद्ध होती हैं।

तुंचन और तुलसीदास दोनों लगभग एक ही समय जीवित रहे। दोनों की आत्मा जन जीवन में तादात्म्य पा गयीं। लोक संग्रह की दृष्टि मध्यकाल के कवियों में इतने विशद रूप में अन्यत्र नहीं पायी जाती। तुलसी का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था और तुंचन का अब्राह्मण कुल में। तुंचन को ज्ञान जनसाधारण की आकांक्षाओं तथा अभिलाषाओं का अनुभूतिजन्य ज्ञान अधिक मात्रा में प्राप्त हो सका। परन्तु तुलसीदास भी धनी घराने के न थे। उन्हें जीविकोपार्जन के लिए दर-दर घूमना पड़ा यह हमने देखा। इसलिये मानव जीवन की यथार्थ विभीषिकाओं और उत्तप्त अनुभवों से उनका भी काफी परिचय हो गया। सत्संग का सौभाग्य भी दोनों को सम्प्राप्त हुआ। देशाटन करने से कोरे किताबी ज्ञान के अतिरिक्त सच्चे साहित्यकार के लिये मानव जीवन की विविधताओं और जटिलताओं का जो पारमार्थिक ज्ञान अपेक्षित है वह भी उन्हें मिल गया। दोनों की सांस्कृतिक परम्परा भी अत्यन्त समृद्ध और अखंड थी। तत्कालीन राजनैतिक उथलपुथलों से दोनों दूर रह पर राजनैतिक पराभव से अभिभूत कर्त्तव्यविमूढ़ जनता को नियन्त्रित करके उनके मानसिक अवसाद को दूर करने में दोनों संलग्न रहे। उनका जीवन इस प्रकार कर्मठ तथा साथ ही साथ वैराग्ययुक्त भी था।

सामयिक परिस्थितियाँ

किसी महान व्यक्तित्व के मूल्यांकन मे उससे संबद्ध युग की प्रवृत्तियों का विश्लेपरा अत्यन्त आवश्यक है। कोई महापुरुष, चाहे वह कितना ही क्रान्तिकारी क्यो न हो, अपनी सामयिक परिस्थितियो के प्रभाव से एकदम अछूता नही रह सकता। मानव व्यक्ति-रूप से समष्टिगत सत्ता का स्फुलिंग मात्र है और समष्टि सामयिक परिस्थितियो के अनुरूप ढलती रहती है। साहित्यकार की कृति सामाजिक गतिविधियों का प्रतिविम्ब तथा प्रेरक है, अतएव उस गतिविधि का विश्लेपरा उसके अध्ययन मे अपेक्षित ही नही, अनिवार्य भी है। जैसा कि जान ड्रिकवाटर ने सूचित किया है, 'कृतिकार का व्यक्तित्व और युग का चैतन्य ही सभी कविताओं मे सबसे अधिक प्रभावोत्पादक तत्व है!' ('...the personality of the author and the spirit of the age are the most important influence in all poetry'.)

देशी[1] विदेशी[2] प्राय: सभी विद्वानो ने भारत की सामाजिक भावना पर विचार करते हुए आक्षेप किया है कि इस देश की जनता मे एक सुसंघटित राष्ट्रीय-भावना कदापि नही थी, यही कारण है कि विश्व के राजनैतिक

---

1. 'Nevertheless, it becomes painfully evident that the people lacked the true conception of India or Hindu nationality as we understand the term.'

   —R.C. Majumdar, 'Ancient India' (1952), p. 333.

2. 'The Indian never knew the feelings of nationality and his heart never trembled in the expectation of national applause.'

   —Max Muller, 'A History of Ancient Sanskrit Literature' 1859, Published by the Panini Office, Allahabad, Reprint. 1912.

इतिहास म भारतवष का नाम तक नही लिया जाता। रवीन्द्रनाथ ने लिखा—यह बात माननी ही होगी कि राष्ट्रीय साधना भारतवष की साधना नही है। एक बार बड बडे राजा और सम्राट हमारे देश म दिखाई पड थ। किन्तु इनकी महिमा इन्ही म स्वतन्त्र है। देश के सवसाधारण न उस महिमा की दृष्टि भी नही की, वहन या भोग भी नही किया। व्यक्ति विशष की शक्ति म उसका उद्भव और विलय हुआ। किन्तु भारतवष की एक अपनी साधना है वह है उसके अन्तर की चीज। सब प्रकार क राष्ट्रीय विपयय के भीतर से उसकी धारा बहती रही है। यह दूसरी बात है कि सूक्ष्म सास्कृतिक दृष्टि से भारत वष एक ही रहा। पूवकाल की स्थिति कसी ही क्यो न रही हो मध्यकालीन भारत राजनतिक दृष्टि तो पूणतया और सास्कृतिक दृष्टि स आशिक रूप मे अध पतन के ही चित्र प्रस्तुत करती है इसम कोई सन्देह नही।

हिन्दू साम्राज्य का अध पतन

महाराज हषवधन की मृत्यु क साथ साथ उत्तर भारत के हिन्दू साम्राज्य की भी इतिश्री हो गयी। सुव्यवस्थित तथा सुदृढ केन्द्रीय शक्ति के अभाव के कारण सारे देश म विशृ खलता-सी छा गयी। अवसर पाकर कई छोटे छोटे सामतगण उठ खड हुए और अधिकार की प्राप्ति के लिए निरतर कलह करत रह। पारस्परिक कलह से उनकी शक्ति का अपव्यय हो रहा था। ठीक इसी अवसर पर बाहर स भारत पर मुसलमानो का आक्रमण शुरू हुआ। बाहरी आक्रमण का सफलतापूवक सामना करन के लिए जिस सघटित सामूहिक शक्ति की आवश्यकता थी हिन्दुओ म उसका सवथा अभाव था। इस देश की राजपूत जाति वीरता और आत्मोत्सग के लिय ससार भर म प्रसिद्ध है परन्तु उनकी वीरता की दीप्ति उस समय शत्रु दमन म नही बल्कि जातीय कलह म ही अपनी तेजस्विता का अधिक प्रसार कर रही थी। व्यक्ति विद्वष, मत्सर और कलह स उन्मत्त इन राजपूतो को भविष्य क गभ म स्थित आपत्ति के बीज को देखन की दृष्टि नही रह गयी थी।[1]

इस्लाम का आक्रमण इस देश के सुदीघ इतिहास म अत्यन्त महत्त्वपूण घटना है। इसका भारतीय जीवन म जो व्यापक प्रभाव पडा वह एकदम अभूत

---

1 Iswari Prasad—History of Mediaeval India (1948) Introduction p 34

पूर्व था। इस देश में विदेशियों का आक्रमण नयी घटना तो नहीं थी। फिर इस आक्रमण की क्या विशेषता थी, इस विषय की कुछ चर्चा यहाँ अनिवार्य है।

मुसलमानी आक्रमण के बहुत पहले ही इस देश मे विदेशियों के अनेक आक्रमण हो चुके थे। बहुत-सी बाहरी जातियों ने यहाँ अपने साम्राज्य भी स्थापित किये थे। परन्तु सर्वग्राही भारतीय समुदाय ने सबको अपने मे समाविष्ट कर लिया। श्री जैक्सन साहब ने लिखा है जिन 'राजपूतों की वीरता की स्मृति मात्र पर भारतीय विजृंभित हो उठते हैं। वे भी एक जमाने मे बाहर से आक्रमण के लिए ही भारत मे आये थे।'[1] यवन, हूण, शक आदि कितनी ही बाहरी जातियों ने भी भारतीय समुदाय मे 'गुण कर्मविभागशः स्थान पाये। भागवत मे ऐसी जातियों की एक पूरी सूची देकर बताया गया है कि एक बार भगवान का आश्रय पाते ही ये शुद्ध हो गई हैं। महाभारत मे कहा गया है कि ज्ञान सम्पन्न होने पर म्लेच्छ यवनों की पूजा भी ऋषियों के समान की जाती है।[2] एक स्थान पर महाभारत में यवन, म्लेच्छ आदि को भी भारतीय राजाओं के कुल से उत्पन्न मान लिया गया है।[3] पंडितों का दावा है कि स्वयं पांचों पांडव भी मूलत. पाँच विदेशी जातियों के परिवर्तित रूप के प्रतिनिधि हैं और यहाँ तक कि 'महाभारत' का विषय भी शुद्ध भारतीय साहित्यिक सामग्री से मेल नहीं खाता।[4] वर्तमान हिन्दू समुदाय के देवी-देवताओं का स्वरूप भी कितने ही विभिन्न जाति और देश के सकल्पों और और तत्वों से संघटित और सुस्थिर हुआ है, यह भी भारतीय संस्कृति की सर्व-

1. Jackson—'Indian Antiquary', January 1911.

2. म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यग्ज्ञानमिदस्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किंपुनर्दैवविद्द्विज॰ ।।

3. यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः सुता ।
द्रुह्योरपि सुता भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ।।

—महाभारत, 1, 80, 26T

4 देखिये श्री बुद्धप्रकाश का 'महाभारत—एक ऐतिहासिक अध्ययन—2' शीर्षक निबन्ध, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' वर्ष 62, स० 2014, अक 4, पृ० 267-273।

सग्रहणशीलता का द्योतित करता है। परन्तु धीरे धीरे भारतवर्ष की ग्रहणशीलता सकुचित होती गयी और उसका स्थान घोर तथा गर्हणीय वर्जनशीलता ग्रहण करने लगी। इसी सकीर्ण मनोवृत्ति मे देश और जाति के अध पतन का बीज भी सन्निहित था।

हिन्दू संस्कृति की ह्रासमान गति

हिन्दुओ का सांस्कृतिक अध पतन किस सीमा तक पहुँच गया था, इसका थोडा सा आभास पाये बिना हम मुसलमानी आक्रमण के प्रभाव और तज्जनित सामाजिक जागरण का महत्व भलीभाँति नही समझ सकेंगे।

सच पूछा जाय तो जसा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूचित किया, मुसलमानी आक्रमण क बहुत पहले ही भारतीयो का सास्कृतिक अध पतन शुरू हो गया था। भौतिक जीवन की समस्याओ के प्रति विमुखता बहुत पहले ही जनता की कमण्यता के विलोप का कारण बन चुकी थी। जहाँ 'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धि सधम सुना जाता था वही क्रियानाश'[1] स मोक्ष की ओर बढ़न के आदेश को प्राबल्य मिल गया। दुखवाद ने पहले ही जग मिथ्यावाद क पनपने की भूमि तयार कर रखी थी। हम यह नही कहते कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण के बाद ये वाद और सिद्धान्त अशत ठीक नहीं उतर सकते, हमारा मतलब केवल इतना ही है कि इस देश की जनता वलव्य की ओर मुसलमानी आक्रमण के बहुत पहले ही बढ़ चुकी थी।

जीवन ठोस वास्तविकताओ का सघात है। जिस समय तक हम देह धारण करते रहेंगे उस समय तक उसके धम का पालन करना ही पडगा। शरीर चेतन नहीं, जड है भौतिक उपादानो का सघात है। उसकी सुरक्षा के लिये भौतिक उपादानों की आवश्यकता अनिवाय है। उसकी उपेक्षा करना नाश को निमन्त्रण देना ही है। भारत ने यद्यपि भावजगत् म उच्च दार्शनिक सिद्धान्तों को स्थान दिया था तथापि उसके प्रत्यक्ष या क्रियमाण जीवन के साथ इनकी सगति बहुत कम थी। दशन और धमशास्त्र के क्षेत्र म भारत ने उन दिनो असाधारण उन्नति की थी, भारतीय भगवत् प्रम क शृग पर चढ़ चुके थ पर

---

1 क्रियानाशे भवेच्चिन्ता नाशोऽस्माद्वासनाक्षय।
वासना प्रक्षय मोक्ष सा जीवन्मुक्तिरिष्यते॥
—'विवेकचूडामणि' श्लोक, ३१८।

मनुष्य को वे उतनी ही मात्रा मे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लग गये थे। कला की उन्नति विश्वोत्तर थी, पर वह मदिर के प्रागणो से वाहर झाकती नही थी। जहाँ वेदाध्ययन का अधिकार सवको वेद ने स्वय दे दिया था। ('यथेमा-वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य ब्रह्मराजन्यात्र्या शूद्राय चारणाय चार्याय···' —यजुर्वेद) वहाँ केवल एक विभाग का वह जन्मायत्त अधिकार सिद्ध किया गया। स्त्रियो की स्थिति सबसे अधिक दयनीय थी। जिन भारतीय वनिताओ ने वेद मंत्र तक के दर्शन किए थे, उनकी परम्परा को शिक्षा का अधिकार तो दूर रहा, किसी धार्मिक कार्य मे भाग लेना ही वर्जित हो गया।[1] 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' कहाँ और कहाँ 'स्त्रीशूद्रो नाधीयेताम्।'

सामाजिक जीवन मे गतिहीनता

अलबेरुनी ने मध्यकालीन भारतवर्ष का जो चित्र खीचा है वह अवश्य ध्यान देने योग्य है। उसने लिखा है कि (मध्यकाल के) हिन्दुओ ने अपने को, अपनी कला और विद्या को सर्वश्रेष्ठ समझ रखा था और वे दूसरो से कुछ आदान-प्रदान करने या उनसे मिलने तक को भी तैयार नही थे। वे अपने स्वजनो को भी अस्पृश्य समझते थे, फिर विदेशियो की वात ही क्या? शायद अलबेरूनी का विचार एकपक्षीय हो और उसमे मिथ्याकथन भी बहुत हो, पर इतिहास का विद्यार्थी जानता है कि तत्कालीन भारतीयो की स्थिति उससे बहुत भिन्न नही थी। अलबेरुनी ने यह भी मान लिया है कि भारतीयो के पूर्वज ऐसे नही थे।

इसमे दो मत नही हो सकते कि धर्म, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, कला आदि मे भारतीयो की समता उन दिनो कोई भी देश नही कर सकता था। हावेल ने लिखा है कि इस्लाम का दर्शन, साहित्य, शिल्पकला आदि भारतवर्ष से ही पहलेपहल प्रभावित हुआ, न कि यूनान से।[2] कहते है कि स्वय कुख्यात मूर्तिभजक महमूद को भी मथुरा के मंदिरो को देखकर आश्चर्य हो गया था।[3] और भी पहले अरव आक्रमणकारियो ने हिन्दुस्तान की सभ्यता

1. R.C. Majumdar—'Ancient India' (1952), p. 507.
2. हावेल—'आर्यन रूल इन इडिया, पृ० 256।'
3. श्रीकृष्णदत्त वाजपेई—'उत्तरप्रदेश का सास्कृतिक केन्द्र—मथुरा', प्रथम सस्करण 1955, पृ० 23।

देखकर आत्मग्लानि का अनुभव किया था।[1] ज्योतिषशास्त्र, दर्शन वद्यक आदि का ज्ञान कहते हैं, भारतीयों से ही अरबों ने सीखा।[2] खलीफा हारून की चिकित्सा के लिये भारतवर्ष से वद्य (माणिक्य नामक) गया था और वह अच्छी ख्याति पाकर लौट आया।[3] पर, यह सब होते हुए भी हिन्दुओं की सभ्यता और उनका ज्ञान उस युग में विकासोन्मुख नहीं था। नये क्षत्र के उद्घाटन में उनकी प्रतिभा प्रवृत्त नहीं हुई। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'इतिहास की दृष्टि में यह काल भारतीय संस्कृति के पराजय का काल है। विदेशी शक्तियाँ भारतवर्ष के इस कोने से उस कोने तक अपना आतंक विस्तार कर चुकी थीं युद्ध विग्रह में वाणिज्य व्यवसाय में भीतरी और बाहरी राज्य व्यवस्थाओं में — सर्वत्र विदेशियों और विधर्मियों का हाथ था। भारतवर्ष की असफलता की करुण कहानी से इस युग के इतिहास का अध्याय का अध्याय भरा पड़ा है।[4]

धार्मिक परिस्थिति

तुलसी के समय से बहुत पहले ही भारतीय धर्म से प्राचीन वदिक धर्म का रूप लुप्त हो गया था। आचार प्रवण पौराणिक धर्म का बोलबाला हो गया और विविध मतमतान्तरों और सम्प्रदायों के बाहुल्य में वास्तविक धर्म जन साधारण से दूर हट चुका था। ये विविध मतमतान्तर तो परस्पर कलह में निरन्तर निम्न रहा करते थे। आनंदगिरि ने लिखा है—

> केचिच्चन्द्रपरा परे कुजपरा केचित् मदाश्रिता
> केचित्कालपरा परे पितृपरा केचिच्च नागेश्वरा
>
> — —
>
> अन्योन्यमत्सरग्रस्ता परस्परजयषिण
> निजेच्छाकृतिमप्यु धारयन्ति रूपान्विता ॥

बौद्धधर्म की महायान शाखा का अन्तर्भाव हिन्दू धर्म में हो जाने पर उसके अनेक आचार विचारों और विश्वासों का हिन्दू धर्म ने ग्रहण किया। वर्णाश्रम

---

1 ईश्वरीप्रसाद — भारत का इतिहास (1951), पृ० 217।

2 — हिस्ट्री आफ मिडीवल इंडिया (1948) पृ० 69।

3 — भारत का इतिहास (1951) पृ० 218।

4 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी— सूरसाहित्य संशोधित संस्करण (1953), पृ० 42।

धर्म के परवर्ती दूषितस्वरूप का बन्धन और भी कड़ा हो जाने के कारण आश्रमभ्रष्ट जनसमुदाय संख्या मे बढ रहा था। शैवों और वैष्णवो, शाक्तो और कापालिको, योगियो और सूफियो का सर्वत्र बोलबाला था। इनमे भी परस्पर मत्सर की मात्रा कम नही थी। राजशक्ति तो पहले ही छिन गयी थी, ब्राह्मणो के धर्मोपदेश व अध्ययन-अध्यापन अवरुद्ध हो गया था। क्षत्रियो की वीरता कुंठित हो चुकी थी। वैश्यो का व्यवसाय अस्तव्यस्त पड़ा था और शूद्रो की उच्छृंखलता बढ रही थी। भय तथा प्रलोभन के कारण बहुत लोग स्वधर्म भी त्याग चुके थे।

सुसंगठित मुसलमानी मज़हब के सामने भारत की सर्वसंग्राहिका शक्ति ने अपने को असफल पाया। 'उसने कभी यह विश्वास नही किया उसके आचार और मत को न मानने वाली जाति का कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्तव्य है। किसी का परमकर्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे मालूम नही था।'[1] किन्तु इस नवागंतुक जाति को उसने अपनी समस्त चिराचरित प्रथाओ को नष्ट-भ्रष्ट करने मे उत्सुक ही नही, कृत निश्चय ही देखा। मूर्तिपूजा का विपाटन, समस्त सामाजिक आचारो का विच्छेद और बलपूर्वक मज़हब मे मिला देना यही आदर्श मुसलमान शासक का लक्ष्य मान लिया गया।[2] 'भारतीय समाज अपनी आत्मरक्षा के लिये धीरे-धीरे अपने आप मे ही सिमटता गया।'[3]

ऐसी संकीर्ण परिस्थिति के बीच से धर्म और जाति की रक्षा का कार्य अत्यन्त दुष्कर था। हिन्दुओ के आचार्यों ने इस्लाम की ललकार को स्वीकार करने का प्रयास किया। असंख्य स्मृतियो और पुराणो और धर्म-शास्त्रो का आलोडन करके एक सर्वसम्मत मत खडा करने का प्रयत्न किया गया। स्मृतियो की नयी-नयी टीकाये लिखी गई। 'परन्तु स्तूपीभूत शास्त्र वाक्यो की छानबीन से एक बहुत कुछ मिलता-जुलता आचरण प्रवण धर्ममत स्थिर किया जा सका।······पर समस्या का समाधान इससे नही हुआ।····· इस प्रयत्न की सबसे बडी कमजोरी इसकी आचरण प्रवणता ही थी[4]। वर्जनशील हिन्दू

1. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर'—परिवर्द्धित पांचवा सस्करण, 1955, पृ० 172।
2. ईश्वरीप्रसाद, 'हिस्ट्री आंफ मिडीवल इडिया' (1948), पृ० 527।
3 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य' (1952), पृ० 100।
4 वही, 'कबीर' (परिवर्द्धित पाँचवा सस्करण), पृ० 173।

समुदाय का संघटन इससे भी न हो सका। हिन्दू धर्म इस प्रकार कर्तव्य विमूढ़ रह गया। 'ऐसे समय में दक्षिण से वेदान्तभावित धर्म का आगमन हुआ जो इस विशाल भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक फैल गया। डा० ग्रियर्सन ने कहा था कि बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त अंधकार के ऊपर से एक नई बात दिखाई पड़ी। यह भक्ति का आन्दोलन है।' पौराणिक अवतारों को केन्द्र करके सगुण उपासना के रूप में और परब्रह्म जो योगियों का ध्येय था उसे केन्द्र करके निर्गुण प्रेम भक्ति की साधना के रूप में।

इस भक्ति के उदय की चर्चा हम अगले परिच्छेद में करेंगे। यहाँ इतना सूचित करना आवश्यक है कि यह भक्ति आन्दोलन आकस्मिक नहीं था और उसके लिए अनेक वर्षों से ये मेघखण्ड एकत्रित हो रहे थे। भक्ति धारा के सगुण रूप का उत्कर्ष साहित्यिक दृष्टि से सूर और तुलसी में अपने चरम विकास को पा गया। तत्कालीन राजनैतिक वातावरण इस कार्य में कहाँ तक प्रभावोत्पादक हो सका इसका भी विवेचन आवश्यक है। उसके विस्तृत विवेचन के पूर्व उसकी सामान्य पृष्ठभूमि की जानकारी अपेक्षित है।

हमने अभी देखा कि उन दिनों भारतवर्ष एक अभूतपूर्व धार्मिक आन्दोलन का केन्द्र बन गया था। दक्षिण से आयी हुई सगुण भक्तिधारा ने मानवहृदय को समस्त विषमताओं के परे भगवत्प्रेम की सामान्य भावभूमि पर पहुँचने का कार्य शुरू किया था। समन्वयात्मक प्रवृत्ति इनकी सबसे बड़ी विशेषता थी। कबीर नानक आदि संतों ने यह दिखा देने का स्तुत्य प्रयास किया था कि विविध धर्म मत एवं परमात्मा की प्राप्ति के विविध मार्ग मात्र हैं अतः धर्म के नाम पर कलह करना निरी मूर्खता है। जनता पर इसका अच्छा प्रभाव भी पड़ने लगा। श्री राम शर्मा ने लिखा है कि उस समय के भक्ति आन्दोलन ने हिन्दू धर्म को सार्वजनिक जीवन के अधिक निकट ले आने में सर्वाधिक सहायता पहुँचाई।[1] अकबर के लिए वैष्णवों के भक्ति आन्दोलन ने मार्ग प्रशस्त कर दिया था।[2] इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति की ओर, डा० ताराचन्द के

---

1 Sri Ram Sharma—The Religious Policy of the Mughal Emperors Oxford University Press 1950 P 21

2 Ibid

के अनुसार, सर्वाधिक योगदान सूफी सन्तो का रहा ।[1] आपके अनुसार मध्यकालीन हिन्दू धर्म मे गुरु का ईश्वर के समान महत्व आदि अनेक कार्य सूफीमत से आए है ।[2] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'शास्त्रीय मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर आघात नही कर सकते थे । केवल उसके शरीर को नोच-खसोटकर दु.ख भर पहुँचा सकते थे । पर इन सूफियों ने भारत के हृदय पर प्रभाव जमाया । कारण यह था कि इनका मत भारतीय साधना पद्धति का अविरोधी था ।··· ··भारतवर्ष की वह धारा जो आचारप्रवण वर्गाश्रम धर्म के विधानो के नीचे गुप्त रूप से वह रही थी, इस सधर्मी को पाकर विशाल वेग से जाग पडी······इन दो धाराओ के सयोग से एक अभिनव-साधना ने जन्म लिया । कवीर, दादू आदि इसी मार्ग के यात्री है ।'

(डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'सुरसाहित्य', संशोधित संस्करण 1956, पृ० 47)

राजनैतिक परिस्थिति

हमारे अध्ययन का सीधा सम्बन्ध राजनैतिक दृष्टि से मुगलो के शासन-काल से है। तुलसी के समय मे उत्तर भारत के शासन की बागडोर अकबर और जहाँगीर के हाथो मे थी । भक्तकवि तुलसीदास का राजदरबार से यद्यपि कोई सम्बन्ध नही था तथापि तत्कालीन वातावरण से अप्रभावित रहना उनके लिये असंभव ही था । अकबर की उदारनीति ने कहा तक उस समय की धार्मिक-साहित्यिक-गतिविधियो को प्रभावित किया, यह अवश्य ध्यान देने योग्य बात है । मुगलो का शासन अनेक कारणों से तुर्क, अफगान आदि अन्य मुसलमान शासको के शासन भिन्न था । राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण मे अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहा था । शासको के मन मे जनता के हृदय को जीतने की आवश्यकता महसूस होने लगी थी । दिल्ली की अपेक्षा अन्य प्रान्तो मे हिन्दू-मुसलमान के बीच भ्रातृ-भावना बढ रही थी । विशेपकर कश्मीर तथा बगाल के दूरदर्शी मुस्लिम शासको ने धर्म सहिष्णुता की नीति अपनाई और सस्कृत तथा हिन्दी आदि देशी भाषाओ को प्रोत्साहन भी दिया । जयिनुल अबीदी ने कश्मीर मे जजिया को हटा दिया और सस्कृत

1 'Influence of Islam on Indian Culture', 1954, p. 115
2. 'Influence of Islam on Indian Culture', 1954, p. 115

भाषा को भी प्रोत्साहित किया। उसने गो हत्या भी बन्द कर दी। बंगाल के अलाउद्दीन हुसन शाह ने भी इसी प्रकार की नीति अपनाई। उसका पुत्र नसीरुद्दीन नसरत शाह बंगाली साहित्य का बडा संरक्षक था। उसने महाभारत का बंगाली भाषा मे अनुवाद कराया और हिन्दू साहित्यकारों का काफी सम्मान और सहायता भी की। अन्य प्रान्तों मे भी पुरानी हिन्दू विरोधी नीति मे परिवर्तन हो गया।[1]

अकबर की उदारनीति

यूरोप आदि अन्य देशो के मध्यकालीन स्वेच्छाचारी शासको से तुलना करते हुए हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि अकबर की नीति अत्यन्त उदार एव शान्तिपूर्ण थी। विशेषकर धर्म के प्रति उसकी भावना अन्य मुसलमान शासको से सर्वथा भिन्न थी। अपने शासन के प्रथम चरण मे ही हिन्दू तीर्थयात्रियो पर लगाये जाने वाले टैक्स को उसने बन्द कर दिया। (सन 1563)। उस समय तक युद्ध मे बंदी होने वाले हिन्दू सैनिको को बलपूर्वक इस्लाम मे मिला लेने की जो प्रथा थी उसको भी अकबर ने रोक दिया। सैकडो वर्षो से हिन्दुओं पर जो जजियाकर लगाया जाता था उसको अन्याय समझकर उसने बन्द किया (सन् 1564)। श्री राम शर्मा का कथन है कि भारतवर्ष के मुस्लिम शासन के इतिहास मे यह अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी।[2] आपने लिखा है कि अकबर के शासन मे हिंदुओ को जितनी ऊँची सरकारी नौकरी दी गई उतनी अंग्रेज सरकार ने कभी नही दी।[3] गोवध निरोधन, मांसाहार को निरुत्साहित करना आदि व्यवहारो से अकबर ने हिन्दुओ के हृदय को ही जीत लिया। भावुक हिन्दुओ ने यहाँ तक कहने मे संकोच नही किया कि अकबर पूर्वजन्म मे हिन्दू ही थे और तपभ्रष्ट हो जाने के कारण ही इस जन्म में उन्हे मुसलमान का जन्म लेना पडा।[4]

---

1 A L Shrivastava — Mughal Empire —*Second Edition* *1957 pp 6-7*
2 Shri Ram Sharma The Religious policy of the Mughal Emperors Oxford University Press *1950* p 23
3 Ibid—p 27
4 A L Shrivastava— Mughal Empire Second Edition (1957), p 176

यद्यपि अकबर पढे-लिखे न थे फिर भी विविध विषयो मे उनकी जिज्ञासा-वृत्ति अदम्य थी। विशेषकर आध्यात्मिक विषयो के प्रति उनकी असाधारण अभिरुचि थी। विविध धर्मो के सिद्धांतो को समझ लेने मे उन्होने काफी दिलचस्पी ली। इसी उद्देश्य से फतेहपुर सीकरी के इबादतखाने की स्थापना की गई। यहाँ भिन्न-भिन्न धर्मो के आचार्यो और पंडितो मे वाद-विवाद और चर्चा होती थी। धर्माचार्यों के आचरण से वह सतुष्ट नही थे, फिर भी वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धर्मो मे आदरणीय अंश वहुत है और सर्वत्र ज्ञान दृष्टिगत होने के कारण यह क्यो माना जाए कि सत्य केवल इस्लाम धर्म मे ही निहित है ? प्रत्येक धर्म से जो-जो परस्पर अविरोधी तत्व सिद्ध हुए सवको उन्होने अपना लिया। हिन्दुओ के पुनर्जन्मवाद-कर्मवाद, फारसियो की सूर्योपासना (अग्न्युपासना), जैनियो का अहिंसावाद आदि से वे अत्यधिक प्रभावित थे। ईसाई धर्म मे अकबर ने इतनी आस्था दिखाई कि वहुत समय तक पोर्चुगीस मिश्नरी उन्हे ईसाइयत मे दीक्षित करने का व्यर्थ स्वप्न देखते रहे। उसने अपने पुत्र मुराद को पोर्चुगीस भाषा और ईसाई धर्म की भी शिक्षा दिलाई।[1]

अन्त मे अकबर ने दीने-इलाही की स्थापना करके सर्वधर्म-समन्वय की भी चेष्टा की। यद्यपि स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानो ने इसको अकबर की सवसे वडी गलती के रूप मे चित्रित किया है तथापि इसके मूल मे समस्त भारत के लिए एक सर्वमान्य धर्म और सस्कृति के बीजारोपण करने का ही महान् उद्देश्य निहित था। वदायूनी आदि मत-भ्रात व्यक्तियो ने अकबर को मुस्लिम धर्म का विरोधी तक कह डाला है।[2] स्मिथ ने भी लिखा है कि अकबर को इस्लाम धर्म मे विल्कुल विश्वास नही था और मुसलमानो को उसके शासनकाल मे अनेक कष्ट सहने पडे। परन्तु यह वात विल्कुल ठीक नही है। अकबर का एकमात्र 'अपराध' अन्य धर्मों के प्रति आदर और सहानुभूति है। मजहव के लिये सभी प्रकार के अत्याचारो और हत्याकाण्डो को साधुवाद देने वालो के सामने अकबर शायद मजहव विरोधी था। अबुलफजल जैसे न्यायप्रिय मुसलमानो ने अकबर को सच्चे मुसलमान के रूप मे ही चित्रित किया है।

---

1. R. P. Tripathi—'Rise and Fall of the Mughal Empire' 1950), p. 281.
2. Ibid., p. 282.

श्री राम शर्मा के शब्दों में अकबर ने अपने पूर्वजों के मत का केवल विस्तार और आचरण ही नहीं किया बल्कि उसे समझने की भी उसने चेष्टा की।[1]

अकबर यद्यपि धर्म परिवर्तन के पक्ष-समर्थक नहीं थे फिर भी उन्होंने धर्म परिवर्तन की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी। एक बार कहते हैं, उन्होंने कहा—यद्यपि मैं एक विस्तृत साम्राज्य का अधिपति हूँ और समस्त सुख भोग तथा अधिकार मेरे करगत ही हैं तथापि सच्चा महत्व परमात्मा के हित करने में होने के कारण मेरा मन मनुष्य के बीच इस साम्प्रदायिक विभिन्नता को देखते हुए शांति नहीं पाता।[2] कितना महत्वपूर्ण वचन! धर्म समन्वय की यह पुनीत प्रवणता अकबर के समय में किस सीमा तक पहुँच गयी थी, यह प्रसिद्ध अबुलफ़्ज़ल द्वारा रचित एक कविता जो कश्मीर के एक मंदिर में अंकित है, देखने मात्र से ज्ञात होता है। उस कविता की दो तीन पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं।[3]

अकबर ने हिन्दुओं से विवाह आदि सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित किया था। हिंदुओं के बीच से सती प्रथा बालविवाह आदि अनाचार दूर करने की भी उसने भरसक कोशिश की। धर्मगत या जातिगत परिगणना के बिना समस्त व्यक्ति राजकर्मचारी होने के अधिकारी मान लिए गए।

साहित्य और कला का नवोत्थान

मध्यकालीन भारत में अकबर का शासनकाल साहित्य और कला नवोत्थान युग माना जाता है। उसकी उदारनीति विद्यानुराग और देश के शांत वातावरण ने साहित्य की अभिवृद्धि में बड़ी सहायता पहुँचाई। आइने अकबरी में अकबरी दरबार के उनसठ प्रमुख फारसी कवियों का नाम दिया गया है।

---

1 'The Religious Policy of the Mughal Emperors', p 19

2 R P Tripathi— Rise and Fall of Mughal Empire (1956), p 285

3 'O, God, in every temple I see people that
Seek Thee and in every language I hear spoken
people praise Thee
Polytheism and Islam feel after Thee
Each religion says, thou art one without equal

अकबर के समय की सबसे बड़ी साहित्यिक देन बहुत से प्रसिद्ध सस्कृत ग्रन्थो के फारसी अनुवाद के रूप मे हमारे सामने उपस्थित है। केवल सस्कृत के ग्रन्थो का ही नही, अरबी, तुर्की आदि भाषाओ के भी अच्छे-अच्छे ग्रन्थ फारसी मे अनुवादित हुए। इस कार्य के लिए उच्चकोटि के विद्वानो की एक मडली नियुक्त थी। आइने-अकबरी के अनुसार महाभारत, रामायण, अथर्ववेद, लीलावती आदि सस्कृत-ग्रथों का फारसी मे अनुवाद किया गया।[1] श्री आर० पी० त्रिपाठी ने ऐसे सस्कृत-ग्रथो की एक लम्बी सूची दी है।[2] मौलिक रचनाओ मे 'अकबरनामा', 'आइने-अकबरी', 'नल-दमयन्ती' आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

अकबर के शासनकाल मे हिन्दी साहित्य की भी अभिवृद्धि हुई। अनेक अच्छे-अच्छे कवि उनकी सभा मे वर्तमान थे। स्वय बादशाह को हिंदी के प्रति झुकाव था। बादशाह ने ब्रजभाषा मे कविता भी की थी।[3] हिन्दी कवियो मे रहीम, रसखान, गग, नरहरि आदि का नाम उल्लेखनीय है। दरबारी वातावरण से दूर साहित्य के क्षेत्र को दीप्त करने वाले अमरदीप थे सूर और तुलसी। अकबर के दरबार मे सूर नाम का भी एक कवि था, पर उसके सूरसागर के रचियता भक्तोतम सूरदास होने मे सदेह है। उस समय के रसखान आदि मुसलमान कवियो की बडी विशेषता यह रही कि वे उसी प्रकार भारतीय जीवन और सस्कृति से कविता का उपादान ग्रहण करते थे जैसे अन्य हिन्दू कवि। रसखान की कविताएँ भगवान कृष्ण के अनन्य प्रेम से ओतप्रोत हैं। और रहीम की कविता थी अत्यन्त सरस तथा भारतीय सस्कृति का प्रतिबिम्ब कराने वाली है। राजदरबार के बाहर भी उन दिनो हिन्दी कविता का अच्छा विकास हो रहा था। यह सब होते हुए भी, आचार्य शुक्ल का मत है, 'सूर तुलसी ऐसे भक्त कवीश्वरो के प्रादुर्भाव के कारणो मे अकबर द्वारा सस्थापित शान्ति सुख को गिनना भारी भूल है।'[1] पर इतना अवश्य वे भी मान लेते है

---

1 'आइने-अकबरी' वाल्यूम 1, पृ० 104-106।

2 'राइस एण्ड फाल ऑफ दि मुगल एम्पायर, पृ० 291।

3. प० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', परिवर्धित छठा सस्करण, पृ० 197।

4. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', छठा सस्करण, पृ०196।

कि अकबर की नीति से 'कला के क्षेत्र में फिर से उत्साह का संचार हुआ।'[1]

उन दिनों चित्रकला का भी यथेष्ट विकास हुआ। बादशाह चित्र और चित्रकारों के बड़े प्रेमी थे। उनके दरबार में बहुत से कलाविद थे। उस समय फारसी और भारतीय चित्रकला का सामंजस्य भी हो गया। आइने अकबरी में तत्कालीन हिन्दू कलाकारों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की गयी है।[2] दसवंत बसु, लाल मुकुन्द आदि इनमें प्रसिद्ध थे। चित्रकला का विकास उन दिनों बहुत हुआ कि बादशाह ने इसके लिये एक विद्यालय खोला जिसमें देश विदेश के विद्यार्थी सम्मिलित थे।

अकबर बड़े संगीत प्रेमी थे। अतः उसके समय में संगीत का विकास स्वाभाविक ही था। आइने अकबरी' में छत्तीस प्रसिद्ध गायकों का नाम दिया गया है। तानसेन उस समय का सर्वश्रेष्ठ गायक था। बाबा रामदास की भी बड़ी प्रसिद्धि थी। अकबर की समन्वयवादी नीति से हिन्दू और मुस्लिम संगीत शैलियाँ मिलकर एक हो गयी और एक राष्ट्रीय संगीत शैली का वहीं प्रादुर्भाव हुआ।[3]

स्थापत्य या शिल्पकला भी अकबर के समय में विकासोन्मुख रही। इस क्षेत्र में भी अकबर ने समन्वय लाने की चेष्टा की। आगरा, लाहौर और इलाहाबाद के किले उस समय की स्थापत्य कला के उज्ज्वल उदाहरण हैं। उसका पूर्ण विकास हम फतेहपुर सीकरी में पाते हैं। हिन्दू शिल्प कला के साथ मुगलों की कला का सामंजस्य तत्कालीन मंदिरों और राजभवनों तक में पाया जाता है।

अकबर के बाद उनके पुत्र जहांगीर ने भी अपने पिता की नीति का ही बहुत कुछ अनुसरण किया। यद्यपि उसमें अकबर का उच्च आदर्श और प्रतिभा नहीं थी, फिर भी शासन की नीति में वह कोई विशेष परिवर्तन नहीं ला सका।

अन्य धर्मों के प्रति उसकी दृष्टि कभी कभी अत्यन्त अनुदार हो गई थी और कई मंदिरों को उसने तुड़वाया भी फिर भी अपने पिता के मार्ग को एकदम

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास' छठा संस्करण पृ० 196।

2 'आइने अकबरी' भाग 1 पृ० 107।

3 आर० एल० श्रीवास्तव— मुगल एम्पायर (द्वितीय संस्करण 1957) पृ० 244।

छोड़ देने की प्रवृत्ति उसमे नही थी। सिक्खो के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त कड़ा था। जैनो को भी जहागीर के जमाने मे बहुत कष्ट सहना पडा। फिर भी विविध धर्मों के प्रति उसकी नीति पूर्ववर्ती मुस्लिम शासको की अपेक्षा उदार थी। अकबर के समान जहागीर ने भी विविध धर्मो के सिद्धान्तो को समझने की चेष्टा की। पर अकबर की समन्वयात्मक बुद्धि और सग्रहशीलता उसमे नही थी। सामान्यतया यह थी उत्तर भारत की स्थिति, अब दक्षिण भारत की ओर आइये।

दक्षिण भारत तुंचन के समय में

दक्षिण भारत से यहाँ तात्पर्य पूरे दक्षिण से नही है। हमारे कवि तुंचन का सम्बन्ध भारतवर्ष के उस सबसे छोटे प्रान्त केरलयाम से है जो पश्चिम घाट के कारण अपने समीपवर्ती प्रदेशो से अलग किया गया है। पूरे दक्षिण भारत की स्थिति का परिचय केरल की जानकारी के लिए आवश्यक तो है पर दक्षिण के अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त रहने से विशेष प्रदेश की विशेप जानकारी आवश्यक हो गई है।

राजनैतिक एवं सामाजिक अशान्ति

राजनैतिक दृष्टि से इन दिनो दक्षिण भारत की स्थिति इससे कुछ भिन्न ही थी। दक्षिण मे कदापि समग्ररूप से मुसलमानी शासन स्थापित नही हुआ। विशेषकर केरल मे तुंचन के समय तक एक दिन के लिए भी मुस्लिम शासन नही रहा।

दक्षिण भारत को भी अपने अधिकार के अन्तर्गत करने की चेप्टा मुसलमानो ने की थी। अलाउद्दीन खिलजी ने सन् 1309 मे मलिक कफ़ूर को दक्षिण भारत लूटने के लिए भेजा। उसने वारगल वीरभुन आदि कुछ स्थान जीत भी लिए और काचीपुरम के कुछ मदिरो का विनाश भी किया। मथुरा मे विक्रमपाड्य ने उसको रोका, अत. वह सन् 1311 मे दिल्ली लौट गया। मलिक कफ़ूर का यह आक्रमण साम्राज्य लिप्सा था धर्म प्रचार की अपेक्षा धन लूटने के विचार से किया गया था।[1]

परन्तु गियासुद्दीन तुगलक ने इस्लाम को कन्याकुमारी तक फैलाने का निश्चय ही किया था। मुहम्मदबिन तुगलक ने दक्षिण के बहुत से भागो को

---

1. K.A. Neelkantha Sastri—'A History of South India,' 1955, pp. 218-220.

अपने साम्राज्य में मिला तो लिया परन्तु उसके दिल्ली की ओर निकलते ही जीते हुए प्रदेशों में स्वातन्त्र्य का संग्राम छिड़ गया। जनता ने कभी मुस्लिम शासन[1] हृदय से नहीं अपनाया। धार्मिक दृष्टि से इस्लाम का प्रभाव दक्षिण के अनेक प्रदेशों में केवल नाममात्र का है।

सोलहवीं शताब्दी तक मुस्लिम आक्रमण को रोकने के लिए दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य के शासक अथक परिश्रम करते रहे। अन्त में यद्यपि उसको भी मुसलमानों के सम्मिलित आक्रमण के सामने सिर झुकाना पड़ा तथापि तीन सौ वर्ष तक उसने मुस्लिमवाहिनी के प्रवाह को रोकने में पूर्ण सफलता पाई। उसके बाद भी चोल, पाड्य आदि शक्तिशाली राजाओं ने दक्षिण भारत के अनेक प्रदेशों को उपद्रवों से बचा लिया।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री नीलकंठ शास्त्री का कथन है कि आज उत्तर भारत और दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन में जो विभिन्नता पाई जाती है और दक्षिण में बड़े बड़े मंदिर जो सुरक्षित रह सके हैं सबका कारण उस तरफ मुस्लिम शक्ति के संक्रमण का अभाव है।

सुदूर दक्षिण में बहुत प्राचीन काल से तीन शक्तिशाली राज्य प्रसिद्ध हैं। चेर, चोल और पाड्य। (पाड्याश्च केरलाश्चैव चोला कुल्यास्तथैव च) ब्रह्मा० पुराण। हमारे अध्ययन का सम्बन्ध इनमें से केवल केरल (चेर) से है। केरल के प्राचीन इतिहास के साथ सीधा सम्बन्ध इस प्रसंग में हमें यद्यपि नहीं है तथापि हमारे कवि की सामाजिक परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि का परिचय आवश्यक है। कहते हैं कि ईसा की नवं शताब्दी के पूर्व केरल (चेर राज्य) में एक प्रकार का प्रजातन्त्र शासन वर्तमान था।[3] प्रधानशासक पेरुमाल के नेतृत्व में ग्राम पंचायतें शासन चक्र चलाती थीं। पेरुमाल जनता द्वारा चुने गए शासक थे। पेरुमालों का शासन सन् 825 तक जारी रहा। उनका शासन काल केरल का स्वर्णयुग कहा जाता है। पेरुमालों

---

1 K A Neelkantha Sastri— A History of South India 1955 p 226

2 'A History of South India' 1955, p 297

3 Majumdar— Corporate Organisation in India p 89
राजहीन जनपद की जानकारी के लिए द्रष्टव्य—जनपदा उत्तर कुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्त—ऐतरेय० 8 14, पृ० 203।

बाद, केरल मे केन्द्रीयकृतसत्ता के स्थान पर छोटे-छोटे राजाओ और सामन्तो का आधिपत्य हो गया। उस समय के उत्तर भारत के ही राजाओ के समान भी परस्पर कलह मे ही अपना श्रेय देखते रहे। मामाँक'[1] मे आधिपत्य जमाने के लिए इन राजाओ मे वहुत काल तक भारी सघर्ष होता रहा।

पेरुमालो के वाद कुछ समय तक वल्लुवनाड्डुराजा मामांक के अध्यक्ष पद का अधिकारी रहा। सन् 925 मे अरव मे व्यापारियो और कोपिकोड्डु के मुसलमानो की सहायता से समूरिन ने इस पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इससे शासन कार्य वहुत कुछ एक व्यक्ति मे केन्द्रित हुआ, पर देश मे शान्ति स्थापित नही हुई। वल्लुवनाड्डु राजा ने अपने खोये अधिकार को पुनः प्राप्त करने का श्रम जारी रखा। एतदर्थ वहुत से भीषण युद्ध हुए। इसके अलावा सामूरिन और कोचित के राजा मे भी निरन्तर कलह होता रहा। मारकाट, नरसहार और लूटमार के भीषण वृतांतो से उस समय के केरल का इतिहास भरा हुआ है। दया, प्रेम, सहानुभूति आदि मानवमन के उदात्त भावो का सर्वथा ह्रास हो गया और रक्त-पिपासा ही सव कही ताडव करने लगी।

सन् ई० की पन्द्रहवी शती तक सामूरिन के अधिकार की व्याप्ति केड्डंगल्लूर से कोल्लम तक हो गई। गृह-कलह कुछ शान्त होने को था कि एक

---

1. The festival that was celebrated once in 12 years in front of the Tirunavaya Temple (Ponnani Taluk S. Malabar) It was presided by one of the Chieftains of Malabar who was for the time acknowledged to be the overlord of Kerala. Owing to rivalries between different parties, men from outside who were above party-politics were also chosen and the selection was from the royal families of Cheras or Cholas or Pandyas. They were called Perumals. The festival was significant in many ways A large assembly representing the various political units of Kerala sat in session then and decided questions of an all Kerala character. There were also committees appointed to decide and award prizes to men for distinction in various arts and sciences, including the art of theft. The last Mamankam was held in 786 M E. (1612 A.D.)

—C.A. Menon Ezhuthachan and His Age, p. 66-67.

नई विपत्ति उठ खड़ी हुई। पोर्चुगीस आततायियों के आगमन से स्थिति बिलकुल बदल गई। यहाँ एक बात सूचित कर देना आवश्यक है कि पश्चिमी साम्राज्यवादियों से मातृभूमि की रक्षा के लिए सामूरिन के नेतृत्व में जो समर किये गये उनमें सामूरिन की सहायता करते हुए देश की रक्षार्थ प्राणों की आहुति देनेवालों की प्रथम श्रेणी में उस समय के कोषिकोडु के मुसलमान ही दिखाई दिये। सामूरिन की नाविक सेना का नायक भी इतिहास प्रसिद्ध कुंजालि मरक्कार था। उन वीर योद्धाओं ने अन्त तक अपना सब कुछ गवाँ कर विदेशियों से युद्ध किया।

पुर्तगाल के आगमन के समय तक मालाबार के विदेशी व्यापार के क्षेत्र में अरबों का पूर्ण अधिकार था। पुर्तगाल वालों ने अरबों को इस क्षेत्र से हमेशा के लिये हटाना चाहा। अतः स्वभावतया ही संघर्ष का क्षेत्र और भी बढ़ गया। विदेशियों की सहायता के लिये एक देशी राजा (कोच्चिन का) भी तैयार हो गया। आरम्भ से ही पश्चिमी साम्राज्यवादियों का लक्ष्य राजनैतिक अधिकार पाना था। अरबों ने कभी राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया था। इस प्रकार देशवासियों और शासकों के सामने एक नई समस्या उठ खड़ी हुई। सबसे अधिक आपत्ति ईसाई धर्म में देशवासियों को बलात्कार मिला देने की पोर्चुगीसों की प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई। उन्होंने इस कार्य के लिये कितने घृणित तथा राक्षसीय मार्गों का अवलम्बन किया कहा नहीं जा सकता। अन्त में सामन्त और अरबों ने मिलकर पश्चिमी आक्रमणकारियों को उखाड़ फेंकने का यत्न किया। इस संघर्ष का परिणाम केरल के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विदेशियों के क्रूर आक्रमण से समाज की नींव ही हिलने लगी। वास्कोडिगामा और आल्बुकर्क दोनों ने मानो सामूहिक नरसंहार की प्रतिज्ञा कर ली थी। वास्कोडिगामा की पैशाचिक प्रवृत्तियों की कथा बहुत लम्बी है। पुर्तगाल ने जो क्रूर कर्म किए वे असभ्य जंगली जाति के बर्बरों को भी लज्जाजनक थे। कोचिन के महाराज (जिसने पोर्चुगीसों का पक्ष लिया था सामूरिन के प्रति विरोध के कारण) को भी ईसाई धर्म में मिला देने की अलबुकर्क ने, भरसक कोशिश की।[1] 'स्पेन वालों ने ईसाइयत के प्रचारार्थ अमेरिका के निरीह

---

1 The Rise of Portugeese Power in India quoted from Cochin History Part I, p 357

आदिवासियो के बीच जो अमानवीय व्यवहार किये थे वे भी पोर्चुगीसो के क्रूर कर्मो की तुलना मे कोई चीज नही है। इनके कुकर्मो का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि आज भी 'परंगी' शब्द, जो पोर्चुगीसो के लिये प्रयुक्त था, मलयालम भाषा मे अत्यन्त निन्दनीय अर्थ का द्योतक माना जाता है।

विदेशियो के साथ भीषण सग्राम करते हुए सामूरिन ने देश रक्षा के लिए कोई भी चीज उठा नही रखी। किन्तु विदेशियो के नये हथियारो के सामने पुराने देशी हथियार व्यर्थ सिद्ध हुए। फलतः सोलहवी सदी के पूर्वार्द्ध मे केरलीय जनसमुदाय को विदेशियो का बहुत उपद्रव सहना पडा।

उत्तर भारत के मुस्लिम आक्रमण और दक्षिण के ईसाई आक्रमण दोनो के भारत पर प्रभाव मे काफी अन्तर है। समस्त उत्तर भारत लगभग आठ सौ वर्ष तक मुस्लिम शासन के अन्तर्गत था जबकि ईसाइयो का आधिपत्य उन दिनो गोवा आदि कुछ स्थानो को छोडकर कही नही जम सका। इस्लामी ससर्ग से भारतीय जीवन, सस्कृति, कला, साहित्य सब कुछ न्यूनाधिक मात्रा मे प्रभावित हुआ है। पुर्तगाल के अनुकरण पर ही अन्य पश्चिमी राज्यो से व्यापारीगण भारत मे आये। उनमे उपनिवेशो की स्थापना का मत्सर बढता रहा जिसमे अन्ततोगत्वा अग्रेज विजयी हुए और समस्त भारतवर्ष उनके अधिकार मे आ गया। यह भी ध्यान देने की बात है कि पुर्तगाल के विरुद्ध सामूरिन ने जो सग्राम किये उनमे केरल के बहुत से राजाओ ने उनका पक्ष नही लिया। अगर सम्मिलित रूप से विदेशियो का सामना किया गया होता तो परिणाम कुछ और ही निकलता।

साहित्यिक परिस्थिति

सामूरिन स्वय बडा विद्वान और कला प्रेमी था। उसकी विद्वत्सभा दक्षिण के साहित्य के इतिहास मे प्रसिद्ध है। यद्यपि उसकी सभा मे सस्कृत के कवियो का सबसे अधिक आदर होता था फिर भी मलयालम के अच्छे-अच्छे कवि भी उसकी सरक्षा मे थे। उस समय की कविता मे विषयगत दृष्टि से पुराण प्रतिपादित कथाओ का प्राचुर्य पाया जाता है। भाषा की शैली सस्कृत और द्राविड़ मिश्रित थी। फिर भी सस्कृत शैली की प्रधानता इस समय के साहित्य की एक विशेषता ही कही जा सकती है। सस्कृत शब्दो की अस्वाभाविक बहुलता

'मणिप्रवालम्' शती के अनुकूल नहीं मानी जाती ।[1] शुद्ध द्राविड शब्दों में अत्यन्त आकर्षक गीत साहित्य की रचना करने वाले कवि भी उन दिनों कम नहीं थे । मुक्तक भी बहुत अधिक संख्या में लिखे गये जिनका प्रतिपाद्य अधिकतर राजप्रशस्ति शृंगार और नायिका का अंग सौष्ठव ही था । इन समस्त रचनाओं की सामान्य विशेषता उनमें प्रस्फुरित होने वाली केरलीय जीवन की अभिव्यक्ति ही है । एलुत्तच्छन के समय के कुछ ही पहले तक साहित्य में चम्पुओं की बड़ी प्रधानता थी । इन चम्पुओं में प्रसिद्ध है पुनम् नम्पूतिरी का 'रामायण चम्पू' और मयमंगलम् का 'भाषा नैषध चम्पू' । गीतकारों में प्रसिद्ध हैं 'कृष्णगाथा' के रचयिता चेरुश्शेरि नम्पूतिरी ।

राजाओं के परस्पर कलहों के कारण समाज में अस्तव्यस्तता होने पर भी कविगण उससे सर्वथा दूर ही रहा करते थे । उन्हें राजनैतिक कार्यों में कोई दिलचस्पी भी नहीं थी । सभी राज्यों में उनका यथेष्ट आदर भी होता था । ब्राह्मणों और कवियों का किसी प्रकार के भेदभाव के बिना आदर किया जाता था । अतः समकालिक उपद्रवपूर्ण घटनाओं के होते हुए भी कविगण काव्यरचना में निरत ही रह सके । मलयालम की मणिप्रवालम् की कविता में सामाजिक चेतना का अभाव भी इसी कारण पाया जाता है ।

धार्मिक परिस्थिति

केरलीय जीवन में विदेशी आक्रमण का कोई स्थायी प्रभाव नहीं हो सका । कुछ समय के लिए धार्मिक अत्याचार का बोलबाला था, पर वह भी अधिक व्यापक और स्थायी नहीं हो सका । फिर भी समाज में शिथिलता और अस्तव्यस्तता व्याप्त हो गयी थी । पर उत्तर भारत की अशांति की तरह वह व्यापक तथा गहरी नहीं कही जा सकती ।

उत्तर में तुलसी के समय के काफी पहले ही कबीर आदि संतों द्वारा हिंदू और मुसलमान दोनों में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा होने लगी थी ।

---

1 लीलातिलकम केरल भाषा का संस्कृत में लिखा गया व्याकरण ग्रन्थ है (15वीं सदी) । इसके रचयिता का कोई पता नहीं है । इसमें मणिप्रवालम का परिभाषा भाषासंस्कृतयोग दी गई है । इसके अनुसार उत्तम मणिप्रवालम वह है जिसमें भाषा शब्दों की प्रधानता हो । मणिप्रवालम अर्थात मणि और प्रवाल के समान मिला हुआ ।

रामानंद की उदार-दृष्टि और भक्ति-सिद्धान्त ने इस क्षेत्र मे और भी तीव्रता उत्पन्न की थीं । साथ ही साथ अकबर की समन्वयकारिणी नीति ने भी तुलसी के युग को प्रभावित किया था । सूफी सतो की प्रेमपीर भरी वाणियो ने हिन्दू और मुसलमान दोनो के हृदय को और भी निकट लाने मे सफलता पाई थी । इन सबमे सामान्य रूप से पाई जाने वाली एक बात है, वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति विरोध । तुलसीदास ने इनका कड़ा विरोध किया । उनके लक्ष्यों में से एक वर्णाश्रम व्यवस्था की नीव को अविचल तथा दृढ रखना था ।

मंदिरो और धर्मस्थानो की स्थिति उत्तर और दक्षिण मे भिन्न-भिन्न थी । जहाँ उत्तर मे उनकी सुरक्षा और अस्तित्व का प्रश्न सबसे प्रमुख था वहाँ दक्षिण मे स्थिति कुछ भिन्न थी । विदेशी आक्रमण से अवश्य कुछ मदिर विनष्ट हुए । पर सामान्यत. मदिरो की नैतिक स्थिति भी अच्छी न थी । प्रभूत सपत्ति से सम्पूर्ण होने के कारण उसकी व्यवस्था करने वाले ब्राह्मणो मे अनाचार बहुत बढ गया था । पुजारियो के अधिकार के विरुद्ध कोई भी कुछ नही कह सकता था । उस समय के पुजारियों की विडबना करने वाला एक प्रसिद्ध सस्कृत श्लोक है—

शातिद्विज' प्रकुरुते बहुदीपशांतिम्
पकवान्न पायस गुलैर्जठराग्निशातिम् ।
तत्रत्य बालवनिता मदनाग्निशान्तिम्
कालक्रमेण परमेश्वर शक्तिशांतिम् ॥

बौद्ध और जैन दोनो धर्मो का प्रचार दक्षिण मे ईसा की प्रारभिक शताब्दियो मे ही हो गया था।[1] पर एलुतच्छन के समय तक उसका प्राय. ह्रास हो गया । वैष्णवो की सगुण भक्ति का विकास और विस्तार भी काफी पहले हो चुका था ।[2] सर्वजन सुलभता और अधिकार भेद-बधन के अभाव आदि के कारण जल्दी से वह जनता की चीज हो सकी । एलुत्तच्छन के समय मे आकर वह सगुणोपासना और भी द्रुतगति से स्यंदमान हुई ।

---

1. राधाकृष्णनन्—'इ डियन फिलासफी', भाग 2 (1951), पृ० 662 ।
2 वही, पृ० 663 ।

सामाजिक मत

पिछले परिच्छेद में तुलसीदास तथा तु चन दोनों की सामाजिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए यह दिखाने की चेष्टा की जा चुकी है कि इन दोनों महापुरुषों के सामने जो जन समुदाय वर्तमान था उसकी गतिविधि एकदम उत्कर्षोन्मुख नहीं थी। वैदेशिक आक्रमणों के उत्पात तथा आन्तरिक कलहों और उपद्रवों से अभिभूत जनता को अस्तव्यस्तता तथा दिङ्मूढता के तमापटल से जीवन के शाश्वतिक प्रकाश की ओर अग्रसर करने की महान आवश्यकता थी। यह काय केवल उपरितलस्पर्शिनी बुद्धि के बूते का नहीं था। उसके लिये अगाधता तक पहुचने वाली तथा प्रश्नों के ममस्थानों को छूने वाली प्रकृष्ट प्रतिभा की आवश्यकता थी।

भारतीय समाज तथा तत्प्रेरक संस्कृति सूक्ष्म तथा आन्तरिक दृष्टि से समस्त प्रतीयमान विविधताओं को एकता के सूत्र में आबद्ध किये ही रहा करती है। परन्तु वह स्थूल या प्रत्यक्ष दृष्टि से विभिन्नताओं का ही विधान करती दिखाई देती है। पर इस विभिन्नता में ही उसकी आतरिक एकता निहित है।[1] इस विभिन्नता के श्रेणी विभाग को प्राचीन भारतीयों ने वर्णाश्रम धर्म की दृढ नींव पर सुस्थिर किया था। यह वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था आरम्भ में परिवर्तनशील या गतिहीन नहीं थी अर्थात जन्म की अपेक्षा कर्म पर ही वर्ण-व्यवस्था आधारित थी। काल की गति के अनुसार समस्त मानवीय संस्थाओं की भी

---

1 India beyond all doubt possesses a deep underlying unity far more profound then that produced either by geographical isolation or by political superority That unity transcends the innumerable diversities of blood colour language dress manners and sect

—Vincent A Smith—'Oxford History of India p X (1919)

गति वाछनीय होती है। नये वातावरण के अनुसार सामाजिक आचारो मे परिवर्तन होना ही चाहिये। परन्तु भारतीय समाज के इतिहास मे परिवर्तन के प्रति घोर उदासीनता के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। जो वर्णाश्रम धर्म 'गुणकर्मविभागश.' निश्चित किया गया था वह केवल जन्मगत माना जाने लगा। विण्टरनित्ज ने सूचित किया है कि आधुनिक युग मे भारतीय समुदाय में शापरूप जो जातिप्रथा पाई जाती है उसकी सूचना वेदो मे कही भी नही है, और एक ही मंत्र मे चार जातियो का उल्लेख पाया जाता है जो स्पष्टतः परवर्ती है।[1] 'जो भी हो, इस श्रेणी विभाग की जटिलता की समस्या वैदिक युग मे बहुत कम ही हुई होगी। उत्कृष्ट कर्मसिद्धान्त, जिसमे दैव से भी बढकर पुरुष-प्रयत्न को प्रश्रय दिया जाता था,[2] जब अलस-अकर्मण्य भाग्यवाद मे परिणत हो गया[3] तबसे भारतीय जनसमुदाय अपनी तत्कालीन स्थिति को भगवत्कृत मानकर अपरिवर्तनीय समझने लगा। अन्य देशो मे पुरानी परम्परा के प्रति तीव्र असंतोष और विद्रोह हम पाते हैं, तब भारत मे दूषित परम्परा के प्रति भी सहिष्णुता की मनोवृत्ति का यही कारण है। भगवान बुद्ध ने यद्यपि इस व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई थी फिर भी उन्होंने अपना मार्ग भी 'आर्यपथ' ही रखा जो परवर्ती युग मे आर्यधर्म में ही अन्तर्भुक्त हो सका। भारतीयो का सघर्ष विचारो का संघर्ष था। आत्मानुभूति को (सेल्फ-रियलाइजेशन) को सर्वाधिक महत्व देने के कारण यहाँ का संघर्ष भी विचारक्षेत्र से ही संवद्ध रहा[4]।

---

1. "there is not yet to be found in the hymns that caste division which imparts a seculiar stamp to the whole of the social life of the Indians of later times, and which upto the present day has remained the curse of India. Only in a Single hymn, evidently late, are the four castes…… mentioned."

   —Winternitz—'A History of Indian Literature', Vol. I, p. 66

2 'पुरुष हि परं मन्ये दैवं निश्चित्य मुह्यते', महाभारत, शान्तिपर्व।

3 Dr Radhakrishnan—'The Hindu View of Life' (1948), p 76

4. Max Muller—'A History of Ancient Sanskrit Literature', (First Imp. 1859, Reprint. 1912), p. 16.

मध्यकाल म भारतीय समाज-व्यवस्था के सामने एक नयी समस्या ही उठ खडी हुई थी। एव सहारप्रवण धममत से उसको सामना करना पडा था। तत्कालीन समाज सुधारको ने भी प्राचीन व्यवस्था के परिवतन की आवश्यकता नहीं समझी। बाह्य जीवन की, प्रत्य त अनुभव के क्षेत्र की विभिन्नता को दूर करने का माग निर्धारित न होने के कारण ही मध्यकाल की समाज सुधारक प्रवत्तिया का भी वाछित प्रयोजन सप्राप्त नही हो सका। भिन्न भिन्न सम्प्रदाय समाज को सभालने के लिये उठ खडे हुए, परन्तु ये सम्प्रदाय जनता मे एकता स्थापित करने की जगह कलह को ही ज म दे सके। शवो और वष्णवो का परस्पर सघष दक्षिण भारत म कुछ स्थानो पर इतना बढ गया था कि स्वय प्रसिद्ध वष्णव आचाय रामानुज को भी उसका कष्ट सहना पडा।[1]

तुलसी और तु चन दोना ने अपने अपने समाज की व्यवस्था के दोषो और कमियो को भलीभाँति समझ लिया था। राजनैतिक क्षत्र म धार्मिक क्षत्र म सामाजिक आदश के क्षेत्र म सब कही उन्होने अव्यवस्था ही देखी। उसके परिहा रार्थ अपनी अपनी मा यता और शक्ति के आधार पर उन्होने अथक परिश्रम भी किया। यह नही कहा जा सकता कि उनके द्वारा निर्दिष्ट समाज सुधार के माग ही सवथा उचित या उपयुक्त थे, या उन्ही के प्रयोग के द्वारा ही भारतीय समाज का उद्धार हो सकता था। उन्हे भी परम्परा के प्रति अतिमात्र मोह था जिसके कारण नये विचारो और परिवतनोन्मुख दशना का उनमें अभाव ही प्राय पाया जाता है। यह सब होते हुए भी उनमे तत्कालीन सामाजिक रीति नीति के प्रति घोर असहिष्णुता थी इसम स दे नही। उनका विद्रोह नवीन समाज की स्थापना को ल य करके नहीं, अपितु प्राचीन व्यवस्थाओं को पुन प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य स ही किया गया। इस व्यग्रता म प्राचीन आदर्शों म कोई तत्व उपेक्षणीय या अग्राह्य है यह भी सोचने का उन्हें समय नहीं मिला।

भारतीय शास्त्र के अनुसार राजा तथा प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र का सम्बन्ध है।[2] अपने सुखो की चिन्ता किये बिना दूसरों के लिय दुःख उठाना

---

1 H H Wilson— Essays on the Religion of the Hindus Vol 1 (1862), p 36

2 पितव पुत्रमभि रक्षतादिमान्स्वाहा' (यजुर्वेद, 35/17)।

ा स्वभाव माना गया है ।[1] यदि ऐसा राजा स्वय प्रजा का उत्पीड़न करने
जाय तो तुलसी और तु चन जैसे सात्विक स्वभाव के साधुओ का भी हृदय
ग्ध हुए बिना नही रह सकता । प्राचीनकाल से ही विद्यानुराग, त्यागप्रवण
न एव पुनीत आचार-विचार के लिये प्रथित, ब्राह्मणो का अनादर, उनके
द्ध 'ज्ञात लव दुर्विदग्ध' शूद्र का आँख उठाना आदि तुलसी और तु'चन जैसे
यो के लिये क्षोभजनक हो सकता है । समाज की सुस्थिति तथा सुरक्षा के
अनादिकाल से अगीकृत वेद से प्रमाणीकृत वर्णाश्रम व्यवस्था का, विकृत
का ही क्यो न हो, तितर-बितर हो जाना तुलसी और तु'चन जैसे धर्म-
धर कविगण कैसे सह सकते है ।

सीदास और राजनीति

यह दिखाया जा चुका है कि तुलसीदास के समय मे उत्तर भारत मे अकबर
शासन था । अकबर के बाद जहाँगीर के काल मे ही तुलसी की मृत्यु हुई ।
सी ने इन दोनो की शासन-प्रणाली को मन मे रखते हुए ही अपना राजनै-
क मत स्थिर किया होगा । अकबर की शासन-नीति, धार्मिक उदारता, एक
लित सस्कृति की सृष्टि से राष्ट्र को सुस्थिर बनाने की चेष्टा आदि का
वेचन हो चुका है । जहागीर ने भी कुछ अश तक अपने महान पिता के पथ
ही अनुसरण किया । परन्तु गोस्वामी जी इससे सन्तुष्ट नही थे । उनके मन
यवन महीपाल की शासन-व्यवस्था के प्रति घृणा थी, इसमे सन्देह नही है ।
नकी रचनाओ मे उसके पुष्ट प्रमाण पाये जाते है । 'गोस्वामी जी ने कलि-
ाल का जो चित्र खीचा है, वह उन्ही के समय का है ।'[2]

> गोड गवार नृपाल महि यमन महामहिपाल ।
> साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल ।।[3]

तुलसीदास ने अपने हृदय मे रामराज्य का आदर्श ही राजशासन के लिये

---

1. 'स्वसुखनिरभिलाप. खिद्यसेलोकहेतो
   प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवविधैव ।
   अनुभवति हि मूध्ना पादपस्तीव्रमुष्णाम्
   शमयति परितापं छायया सश्रितानाम् ।' (अभिज्ञान शाकुन्तल, पंचम अंक) ।
2. पं० रामचद्र शुक्ल—'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० 45 ।
3. 'दोहावली' दोहा नं० 182 ।

सर्वोत्तम समझ रखा था। राजनीति और समाज-व्यवस्था के विषय में इतनी ऊँची भावना रखने वाले महात्मा को तत्कालीन व्यवस्था, जिसमें भोगवाद का प्रामुख्य था, से संतोष नहीं हुआ, इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अनेक प्रसगो से उनकी यह अतप्ति स्पष्ट हो जाती है—

एक तो कराल कलिकाल सूल मूलता मे
कोढ मे की खाजुसी सनीचरि है मीन भी।
वेदधम दूरि गय, भूमिचोर भूप भये।
साधु सीधमान जानि रीति पाप पीन की ॥[1]

तुलसी ने रावण के शासन की अनीतियों का जो चित्र खींचा है। उससे यवनों की राजनीतिक अनीतिया का आभास हो सकता है।[2] यथा—

भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न स्वतन्त्र।
मडलीक मनि रावन राजकर निज मन्त्र ॥[3]

राजा के विषय में गोस्वामी जी की भावना वही पुरानी 'राजा प्रत्यक्ष देवतम्' वाली है—

साधु सुजान सुशील नपाला। ईस अस भव परम कृपाला[4]

पर राजा के अनाचारों को वे 'ईश्वर अशत्व' के कारण भूलने को तैयार नहीं हैं। प्रजाहितैषी होना राजा का सबसे बडा कर्तव्य है। 'तुलसीदास जी प्रजा के प्रति राजा की वात्सल्य भावना को ही ठीक समझते हैं।'[5] जिस राजा की प्रजा सुखी नहीं है उसका नरक भोगी होना अनिवार्य ही है—

जासुराज प्रिय प्रजादुखारी
सो नप अवसि नरक अधिकारी।[6]

---

1 'कवितावली, छन्द न० 177।
2 डा० रामकुमार वर्मा— हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, 1954, पृ० 436।
3 विनयपत्रिका छन्द 139।
4 'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खड 'मानस, पृ० 17।
5 डा० राजपति दीक्षित— तुलसीदास और उनका युग, प्रथम स० 2009, पृ० 52।
6 तुलसी ग्रन्थावली, पहला खड, मानस' पृ० 115।

गोस्वामी जी राजा की समबुद्धि की आवश्यकता पर काफी वल देते हैं। किसी के प्रति पक्षपात दिखाना राजधर्म के विरुद्ध है। समस्त प्रजा का समान रूप से पालन करना सभी राजाओ का कर्तव्य होना चाहिए—

मुखिया मुख सो चाहिए। खान पान कहं एक ॥
पाले पोसै सकल अंग। तुलसी सहित विवेक ॥[1]

गोस्वामी जी के अनुसार साम, दाम, दंड, भेद ये चार नीतियाँ राजशासन मे आवश्यक हैं।

साम दाम अरु दंड विभेदा।
नृप उर वसहि नाथ कह वेदा ॥[2]

सत्य की रक्षा के लिए प्राण-त्याग तक करने को प्रस्तुत रहना चाहिये—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहि पर, वचन न जाही ॥[3]

राजा को धीर तथा निर्भीक रहना भी परम आवश्यक माना गया है।

जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालकिन होऊ ॥[4]

राजा को हमेशा कर्तव्यनिरत रहना चाहिए। राजा का प्रमाद और आलस्य केवल उसके लिये ही नहीं, राज्य के लिए भी हानिकारक है। राज-नीति की सफलता के लिए धन भी परम आवश्यक है। विना धन और धर्म से राज्य का विकास नहीं हो सकता—

राजनीति विनु धन विनु धर्मा
हरिहि समर्पे विनु सत्कर्मा।
विद्या विनु विवेक उपजाए
श्रमफल पढ़े किये अरु पाए।
संत ते जती कुमंत्र ते राजा
मान ते ग्यान पान ते त्याजा।

---

1. 'तुलसी ग्रन्थावली', पहला खंड, 'मानस,' पृ० 388।
2. वही, पृ० 168।
3. वही, पृ० 121।
4. वही, पृ० 304।

प्रीति विनय बिनु मद तें गुनी
नासहिं बेग नीति अस सुनी ।।[1]

गोस्वामी जी का निश्चित मत है कि राज्य में प्रजा की सुख समृद्धि राजा के सुशासन पर ही अवलंबित रहती है—

बिबिध जंतुसंकुल महि भ्राजा । प्रजा बाढ़ि जिमि पाई सुराजा ।[2]

वर्णाश्रम धर्म की पूर्णतया रक्षा तथा पालन करते हुए अंतिम आश्रम में प्रवेश और एतदर्थ राज्य को छोड़कर वन जाना भी राजा का कर्तव्य है—

अंतहु उचित नृपहि बन बासू । बय बिलोकि हिय होइ हरासू ।।[3]

तुलसीदास का आदर्श राज्य रामराज्य ही है और रामराज्य प्रजा राज्य भी ।[4] रामराज्य में—

बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप बिषमता खोई ।।

वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण रक्षा और परिपालन के कारण रामराज्य में सर्वत्र शांति तथा समृद्धि विराज रही है—

बरनाश्रम निजनिज धरम निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग ।।

— — —

राम राज राजत सकल । धरम निरत नरनारि ।
राग न रोष न दोष दुख सुलभ पदारथ चारि ।।

तुलसी के समय का शासन वर्ग भोगविलास में आपादमस्तक मग्न रहता था । तुलसी का हृदय इस अनाचार पर विक्षुब्ध हो उठा । उनके आदर्श राज्य में प्रजा भी एक पत्नीव्रत का पालन करती है । फिर राजा के बारे में कहना ही क्या है—

एक नारिब्रत रत सब झारी । ते मन बच क्रम पतिहितकारी ।।

---

1 तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, 'मानस' पृ० 304 ।
2 वही पृ० 332 ।
3 वही पृ० 373 ।
4 डा० रामपति दीक्षित— तुलसीदास और उनका युग' (2009) पृ 56 ।

आदर्श समाज

आदर्श समाज के सम्वन्ध मे भी तुलसीदास जी ने अपनी कुछ धारणायें वना रखी थी। लोकवर्म को अपनी कविताओ मे इतना अधिक महत्व देने वाला कोई दूसरा कवि हिन्दी मे हुआ ही नही। उन्होने अपने इष्टदेव भगवान राम को मानव-जीवन से कोसो दूर रहने वाले गुणातीत तत्व के रूप मे प्रस्तुत नही किया है। उसकी नीव व्यक्ति और व्यक्ति के पारस्परिक व्यवहार की भद्रता और मर्यादा पर ही आधारित है। उसमे समाज की मान्यताओ के साथ व्यक्ति की अभिलापाओ का सामजस्य संस्फुटित दिखाया गया है। वाल्मीकि महर्पि के राम के चरित्र मे कुछ अंश मनुष्यत्व की ही मुख्यता होने के कारण स्वाभाविक होते हुए भी, लोकशिक्षा के प्रचारक नही हैं। उनके लक्ष्मण के व्यवहार मे भी यह वात पाई जाती है। दशरथ भी अपने आदर्श से कभी-कभी कुछ विचलित से दिखाई देते हैं। (जैसे भरत को जानवूझकर ननिहाल भेजने के वाद राम के अभिपेक की तैयारी का आरम्भ आदि)।

परन्तु गोस्वामी जी के पात्रों की वात ऐसी नही है। उनमे व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सामाजिक हित की प्रधानता है। उनके रामचन्द्र मे मर्यादापालन की मात्रा इतनी अधिक वढ गयी है कि गुरुजनो के सम्मुख अपनी धर्मपत्नी से वातें करते हुए भी उन्हें संकोच आ जाता है।

मातु समीप कहत सकुचाही। वोले समउ समुझि मन माही॥
राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाति जिय जनि कछु गुनहूँ॥[1]

अनुज लक्ष्मण जव कभी आवेश मे आकर पिता या किसी पूज्य व्यक्ति के विरुद्ध कुछ कहते हैं तो फौरन उन्हें रोक लेते हैं—

सुनि लच्छिमन विहसे वहुरि। नयन तरेरे राम
गुरु समीप गवने सकुचि परिहरि वानी वाम।[2]

अपनी प्रशसा सुनते समय भी रामचन्द्र संकुचित हो जाते हैं। यह संकोच आत्मगौरव का वहिःस्फुरण है। उसमे समाज के प्रति विनयशील होने की शिक्षा भी निहित है।

---

1. 'मानस', मूल गुटका, सत्ताईसवा सस्करण (गीताप्रेस), पृ० 268।
2. वही, पृ० 186।

इतनी आदर्शपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में अव्यवस्था लाने का समारम्भ गोस्वामी जी सह नहीं सकते। अतएव वे प्राचीन मान्यताओं के कट्टर अनुयायी और वर्णाश्रम व्यवस्था के परवर्ती दूषित रूप जातिप्रथा के भी परम समर्थक दिखाई दे रहे हैं। वर्णाश्रम धर्म के वैदिक रूप की ओर उनका ध्यान शायद ही आकर्षित हुआ है। आचारभ्रष्ट ब्राह्मण को वे सदाचारयुक्त विद्वान शूद्र से भी पूज्य मानने के पक्ष में हैं—

पूजिय विप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन-गन ज्ञान प्रबीणा।[1]

इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि तुलसीदास वैदिक धर्म की अपेक्षा मध्य-काल के पौराणिक मतवादों की ओर अधिक झुके हुए हैं।[2] वे किसी की अनाधिकार चेष्टा को समाज हित के लिये सहायक नहीं समझते—

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलियुग सोइ ग्यानी बैरागी॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई घर सपंति नासी। मुड़ मुड़ाइ होइ संन्यासी॥
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभयलोक निज हाथ नसावहिं॥
सूद्र करहिं जपतप व्रतनाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥

पर वे आचारभ्रष्ट ब्राह्मण की अवहेलना करना एकदम भूल तो नहीं जाते—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी
निराचार सठ वृपली स्वामी

तुलसीदास और स्त्री

स्त्रियों के प्रति इस उदारचेता महात्मा के हृदय की स्वाभाविक आर्द्रता का प्रवाह कुछ अवरुद्ध ही दिखाई पड़ता है। वे स्त्रियों को साधना के क्षेत्र में

---

1 आचार्य शुक्ल ने इस उक्ति को चाणक्य की 'पतितोऽपि द्विज श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रिय' वाली उक्ति का अनुवाद मात्र ठहराया है। दे० 'गोस्वामी तुलसीदास', सप्तम संस्करण पृ० 46।

2 भगीरथ प्रसाद दीक्षित— तुलसीदास और उनके ग्रन्थ' (प्रथम संस्करण) 1955 पृ० 8।

विघ्नकारिणी समझते हों, तो आश्चर्य नही है। पर स्त्रियों की घोर निन्दा करने मे भक्तोत्तम तुलसीदास जी ने बिलकुल संकोच नही किया। '...इस युक्ति का अवलबन गोस्वामी जी जैसे उदार और सरल प्रकृति के महात्मा के लिये सर्वथा उचित था यह नही कहा जा सकता, क्योकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निन्दा से उनका जी दुःख सकता है।'[1] कहा गया है, 'नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किए गए है जब नारी ने धर्म-विपरीत आचरण किया है, अथवा निन्दात्मक वाक्य कहने वाले व्यक्ति वस्तु-स्थिति देखते हुए नीतिमय काव्य कहते है। ऐसी स्थिति मे कथन तुलसीदास के न होकर परिस्थिति विशेष मे पड़े हुए व्यक्तियो के समझने चाहिए।'[2] जैसे—

ढोल गंवार सूद्र पसुनारी।
सकल ताड़ना के अधिकारी ॥[3]

और

नारि सुभाव सत्य कवि कहही
अवगुन आठ सदा उर रहही ॥
साहस अनृत चपलता माया ॥
भय अविवेक असोच अदाया ॥[4]

पहली उक्ति सागर की है जो उसने अपनी क्षुद्रता व्यक्त करने के लिये रामचन्द्र के सामने कही और दूसरी रावण की मंदोदरी के सामने गर्वोक्ति है।

गोस्वामी जी की नारी-सम्बन्धी मान्यताएं अवश्य एक सीमा तक अनुपादेय हैं, परन्तु स्त्री-सम्बन्धी यह भावना कवियो और दार्शनिकों मे न्यूनाधिक मात्रा मे यत्र-तत्र पाई जाती है, इस पर भी हमे ध्यान देना होगा। आचार्य शंकर ने स्त्री से हमेशा सतर्क रहने का आदेश दिया था—'एतन्मास पसादि विकारं

1. प० रामचन्द्र शुक्ल—'गोस्वामी तुलसीदास' (सप्तम संस्करण), पृ० 50।
2. डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (तृतीय बार), पृ० 441-442।
3. 'तुलसी ग्रन्थावली', पहला खंड, 'मानस', पृ० 336।
4. वही, पृ० 376।

मनसिविचित्य वार वारम् । नारी स्वभाव के मधुर पक्ष को सर्वाधिक विवत करके दिखाने वाले कालिदास ने भी लिखा—

स्त्रीणाशिक्षितपटुत्वममानुपीपु सहृश्यते किमुत या प्रतिवोधवत्य ।' शेक्स पीयर को भी हम Frailty[1] thy name is woman कहते सुनते हैं। रवी द्रनाथ ने लिखा — O woman ! Thou art half dream and half reality '
स्त्रिया के विषय मे प्रसिद्ध जमन दाशनिक नीशे ने जो बातें लिख डाली हैं[1] उन्हें पढने पर हमे गोस्वामी जी के उद्गारों से उत्पन्न मानसिक वपम्य का समाधान हो सकता है।

हमारे कहने का यह मतलब कदापि नहीं कि स्त्री और शूद्रों के विषय में तुलसीदास जी ने जो कुछ कहा, उन सबका हम समयन करना चाहते हैं। केवल इतना ही इस विषय मे निवेदन करना है कि स्त्री सम्बन्धी उनकी भावना अन्यत्र भी थोडी बहुत मात्रा म ढूढ़ी जा सकती है। कहा गया है कि 'तुलसी दास ने स्त्री और शूद्रो के उद्धार के लिये कोई भी परिश्रम नहीं किया।' परन्तु यह भी स्मरण रखना समीचीन होगा कि 'ये युग की सीमाएँ थी जिन्होंने गोस्वामी जी के चारो ओर लोहे की दीवार खडी कर दी थी। उसे तोडना ऐसे सहृदय कवि के लिये भी कठिन था।'[2]

गार्हस्थ्य जीवन की सरक्षा

ऋषि दयानद ने अपने सत्याथ प्रकाश म अत्यन्त बलपूवक कहा है कि गृहस्थाश्रमी पर ही अन्य आश्रमो की सरक्षा का भार निहित है अत वह

---

1 Everything in woman is a riddle and everything in woman has oneenswer its name is child bearing Man is for woman a means the end is always the child But what is *woman for man ? A dangerous toy*
Quoted by Will Durant— The story of philosophy, Cheap Ed 57, p 432

पर नीशे यह स्वीकार करने को तैयार है कि पूर्णनारी' मानवता के आदर्श में पूर्ण पुरुष से भी उच्चकोटि की है। पृष्ठ वही।

2 डा० रामविलास शर्मा— सस्कृति और साहित्य', द्वितीय सस्करण, 1953 पृ० 86, 87।

(गृहस्थाश्रम) अन्य आश्रमो की अपेक्षा श्रेष्ठ है। मनुस्मृति मे भी उसी को 'ज्येष्ठाश्रम' कहा गया है।[1] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं—

'भारतवर्ष ने गृहस्थ-जीवन की गृहसाधना को केवल लौकिक या भौतिक नही रखा। उसमें लोकोत्तर भावना की व्यवस्था की और सोपान पद्धति पर की। ...पर भारत मे विदेशीय सस्कृति के सम्पर्क के कारण मध्यकाल मे इस व्यवस्था को धक्का लगने की संभावना उठ खडी हुई।'[2] क्रान्तदर्शी तुलसीदास ने समझ लिया कि अगर गृहस्थाश्रम की सुस्थिति मे अव्यवस्था आ जाय तो समाज का अस्तित्व ही आपद्ग्रस्त हो जायेगा। अतएव उन्होने समाज-सबन्धी मान्यताओ मे गार्हस्थ्य जीवन के आदर्श को सर्वोन्नत स्थान दिया। वे गृह छोडकर वन की ओर जाने का उपदेश जनता को नही देते थे। उनका आदेश है कि 'घर (प्रवृत्ति) और वन (निवृत्ति) दोनो के बीच राम-प्रेम मे रहना चाहिए। रामभक्ति मे दोनों का समन्वय है।[3]

घर कीन्हे घर जात है। घर कीन्हे घर जाइ।
तुलसी घर वन बीच ही राम प्रेमपुर छाइ॥

तुलसीदास ने पारिवारिक जीवन के आदर्श को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया कि डा० राजपति दीक्षित ने इनको 'पारिवारिक कवि के नाम से अभिहित किया है।[4] परिवार समाज का मूल है, परिवार से ही समाज की सत्ता रूप धारण कर लेती है। परिवारिक जीवन की मगल-कामना की पूर्ति के विना समाज-कल्याण की आशा करना व्यर्थ है। परस्पर स्नेह और सहकारिता की शिक्षा परिवार से ही समाज ग्रहण करता है। परिवार की समस्त उन्नतियो और समृद्धियो का कारण स्त्री होती है। हमारे देश में 'गृहदेवी' शब्द का

---

1. यथावायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तव ।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमा ॥
   यस्मात्त्रयो प्याश्रमिणो ज्ञानेनान्ने चान्वहम् ।
   गृहस्थेनैवधार्यन्ते तस्माज्जेष्ठाश्रमो गृही ॥ (मनु०, अ० 3, श्लोक 77,78)
2. 'हिन्दी साहित्य का अतीत', प्रथम संस्करण, स० 2015, पृ० 228।
3. वही, पृ० 232।
4. डा० राजपति दीक्षित—'तुलसी और उनका युग', प्रथम स०, स० 2009, पृ० 63।

के समय कवि के मन में रही होगी । 'हरिनाम कीतनम' म भी कवि अपनी रचना का प्रचार स्त्री भिक्षुक, पतित ब्राह्मण सबके बीच मे समान रूप स देखना चाहते हैं ।'[1] इससे सिद्ध होता है कि पतितो के प्रति हमारे कवि का दृष्टिकोण अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण है । वे उन्हें चिरतन दासता और अशिक्षा के मोहजाल स हमशा के लिए मुक्त करना चाहते हैं ।

स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण

स्त्रियो व प्रति तु चन की भावना भी अत्यन्त करुणापूर्ण एव अनुकरणीय है । व स्त्री शिक्षा के पक्के समथक हैं । इसका सबसे पुष्ट प्रमाण स्वय उनकी प्रसिद्ध रचना चितारत्नम' ही है । इसकी रचना के सबध में जनश्रुति है कि कवि ने अपनी बेटी (1) को अद्वैत सिद्धान्त की शिक्षा देने के लिए इसका निर्माण किया था । इस ग्र थ के अन्तिम भाग मे कवि कहता है कि 'योषाओं की जानकारी के लिए ही मैंने यह सब भाषा म कहने का साहस किया है। (चिन्तारत्नम' के एलुत्तच्छन कृत होने में कुछ विद्वान सदेह प्रकट करते हैं ।)

पातिव्रत्य नारी के एक दिव्य विभूति के रूप म ही तु चन चित्रित करत हैं ।[2] पतिव्रता नारियों क पातिव्रत्य को कलकित करने की चेष्टा सवनाश का कारण बन सकती है । रामायण के लका-दहन के प्रसग मे कवि इसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं । लका नगरी मे सब कही आग लग गई है । सकडो राक्षस, बालक-वृद्ध सब जलकर मर रहे है । राक्षस स्त्रियाँ भी आग की लपट से तडप-तडप कर मर रही हैं । वे अपने समस्त दु खो का कारण रावण को ही ठहराती हैं । उसके एक एक अपराध को चुन-चुनकर वे उस कोसती हैं और उसका सबसे बडा अपराध सती नारियो का चरित्र ध्वस करना घोषित करती हैं ।[3] यही लका के विनाश का सबसे बडा कारण भी है । तु चन ने अन्य एक प्रसग मे स्वय भगवान के श्रीमुख से पतिपरायणता की प्रशसा करवाई है ।[4] इस आदर्शप्रियता के कारण कही-कही प्रसग सबधी औचित्यबोध का भी वे अतिक्रमण कर जाते हैं । परन्तु यह भी याद दिलाना वे आवश्यक समझते हैं

1 'हरिनाम कीतनम्' श्लोक 17 ।

2 आर० नारायण पनिक्कर— रामानुजन एलुत्तच्छन' 1955 पृ० 149 ।

3 रामायण , सुन्दरकाण्ड पृ० 313 314 ।

4 वही, अयोध्याकाड, पृ० 87 ।

कि विना सम्यक् विचार किए नारियो के वचनो पर विश्वास रखने वाला पुरुष मूर्ख ही है।[1] स्त्रियों के विरुद्ध तुंचन जब कुछ कहने लगते है तब उनकी दृष्टि अधिकतर उनकी (स्त्रियो की) कठिन-चित्तता पर ही टिक जाती है।[2] उनके विचारानुसार नारी के जीवन की समस्त सुख-शान्ति और सम्पूर्ण भद्रता पति के सामीप्य पर ही आधारित है।

तुंचन और वर्णाश्रम धर्म

तुलसी के समान तुंचन भी वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था पर पूरी आस्था प्रकट करते है। ब्राह्मणो के प्रति उनकी मनोवृत्ति अत्यन्त आदरपूर्ण है। समस्त मंगलो का कारण वे ब्राह्मणो का अनुग्रह ही समझते है। रामायण के आरम्भ मे वे ब्राह्मणो की अत्यन्त विनम्र भाव से वदना करते हैं और अपने 'दुस्साहस' के लिए वार-वार क्षमा माँगते है।[3] 'ब्राह्मणो के चरणरूपी अरुप-कमल की परागराजि से वे अपने हृदय-दर्पण की मलिनताओ को दूर करने' की कामना करते हैं।[4] इतना ही नहीं वे 'ब्राह्मणो को उन वेदो के भी आधार' मानते हैं जिनपर 'स्वय जगन्मय भगवान भी आधारित है।'[5] उनके अनुसार ब्राह्मणो के वचनो को अन्यथा करने की शक्ति ब्रह्मादि देवताओ मे भी नही है।[6]

वर्णाश्रम धर्म की नीव ब्राह्मणो पर अविष्ठित होने के कारण ही तुंचन उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हैं। परन्तु, वे ब्राह्मणो के समस्त अनाचारो को आँख मूदकर सह लेने को तैयार नही हैं। वास्तव मे ब्राह्मण की भी क्यो न हो, अ तःसारविहीन अहं भावना और गर्व को वे अत्यन्त हेय दृष्टि से ही देखते है।[7]—

---

1. 'रामायण', अरण्यकाण्ड, पृ० 193।
2. वही, पृ० 187।
3. वही, वालकाण्ड, पृ० 2।
4. वही।
5 वही।
6. वही।
7. आर० नारायण पनिक्कर—'रामानुजन एलुत्तच्छन,' 1955, पृ० 128।

> मैं ब्राह्मण हूँ, नरेश हूँ, श्रादय हूँ,
> इस प्रकार के दुरभिमान के मोह में मुग्ध रहते हुए भी
> यह शरीर गिर जाता है और या तो यह
> जंतुओं का भोजन और काष्ठ बन जाता है
> या पृथ्वी के नीचे कीड़े बन जाता है
> अत इस शरीर पर अभिमान उचित नहीं है ।[1]

यह निवेदन किया जा चुका है कि तु चन की सामाजिक भावना म पतिता के उद्धार की पूरी गु जाइश दी गई है । निम्नकुल मे जन्म लेने के कारण किसी महान् व्यक्ति का महत्व कम नहीं पड़ जायगा यह उनका अटल विश्वास और अविचल सिद्धान्त है । महाभारत (मलयालम) में विदुर के मुह से ये शब्द निकलते हैं—

> 'राजन् तपस्वी ऋषियो नदियो एव
> प्रभावशाली महात्माओं के उत्पत्तिस्थान की ।
> चिंता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि
> दिव्यगुणसपन्न पुरुषो को उत्पत्तिदोष है ही नहीं ।'[2]

जाति प्रथा की जटिलताओं पर तु चन ने जो सयत आघात पहुँचाया है उसे देखकर कुछ आलोचकों ने उन्हें वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध तक कह डाला है ।[3]

आदर्श गृहस्थ जीवन

आदर्श गृहस्थ जीवन की ओर तु चन ने विशेष ध्यान दिया है । उनके अनुसार पति के हित का सर्वथा अनुकरण करना परिवार की ऐश्वर्यभूता पत्नी का परमधर्म है । वन जाते समय कौशल्या माता से रामचन्द्र की एकमात्र प्रार्थना यही है कि वे पिता दशरथ के हित की सर्वथा रक्षा करें ।[4] कैकेई से भी वे कहते हैं कि पिता के हित के लिए वे सब कुछ—अपना जीवन, धन,

---

1 रामायण,' अयोध्याकाण्ड पृ० 85 ।
2 मलयालम महाभारतम' विदुरवाक्यम—डा० सी० अच्युत मेनन द्वारा उद्धृत एलुतच्छन एण्ड हिज एज' (1940) पृ० 53 ।
3 डा० सा० अच्युत मेनन— एलुतच्छन एण्ड हिज एज' (1940), पृ० 164 ।
4 'रामायण अयोध्याकाण्ड पृ० 87 ।

राज्य, सीता, लक्ष्मरण, सवको—छोड़ देने के लिए तैयार हैं।[1] परिवार मे पत्नी और पति के परस्पर प्रेम का उत्कर्ष तुंचन ने इतना अधिक दिखाया है कि उनके अनुसार पति-पत्नी का सम्वन्ध-विच्छेद प्राणो के अन्त मे भी समव नही है ।[2] अग्रज के साथ वन जाने वाले पुत्र से—

'राम दशरथ विद्धि मा विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवी विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ।।'

कहने वाली माता जिस परिवार को अलकृत करती है उसका चित्र खीचने वाले कवियो का आदर्श भी दूसरा कुछ हो ही नही सकता ।

पद-पद पर जीवन के सग्राम से विरक्ति की आवश्यकता की ओर भी तुंचन संकेत करते है । कर्म सकुल जीवन से मानव को उदासीन करना उनका उद्देश्य नही है । परन्तु साध्य की अपेक्षा साधन को प्रधानता देना अथवा साधन को ही भ्रमवश साध्य समझ कर उसी मे भूले रहना वे उचित नही समझते । जीवन की समग्र व्यग्रताओ और क्रियाकलापो का एक सामान्य लक्ष्य तो है ही, वह है समस्त विषमताओ से परे समरसता और शांति । वहुधा ऐसा होता है कि जीवन के क्रियात्मक पक्ष मे पडे-पडे हम लोग उस महान लक्ष्य को विस्मृति के गर्त मे खो देते हैं । तुंचन कर्मक्षेत्र की ओर लोगो का आह्वान अवश्य करते हैं, पर सतर्कता के साथ काम लेने की चेतावनी भी दे देते हैं—

'हे भाई, यह समस्त दृश्य प्रपंच—
शरीर, राज्य, धन, धान्य आदि—
यदि सत्य हैं तो इनके लिए तुम्हारा परिश्रम
युक्ति-सगत है, अन्यथा इनका क्या प्रयोजन ?''[3]

इसी प्रकार—

'कर्मेन्द्रियो से कर्मो का आचरण
अवश्य करना ही पडता है,
पर, कर्मो मे आसक्ति के विना
फलो की भी आकांक्षा के विना

---

1. 'रामायण', अयोध्याकाण्ड, पृ० 78 ।
2. वही, पृ० 92 ।
3. वही, पृ० 83 ।

> ब्रह्म समर्पण बुद्धि से कर्म करना ही आवश्यक है
> ऐसी स्थिति में कर्मों में हम अवलिप्त नहीं होंगे।[1]

तुंचन और राजनीति

तुंचन का राजनैतिक मत क्षात्र धर्म को प्रश्रय देने वाला है। यद्यपि वे परम सात्विक तथा परिपूर्ण शान्त प्रकृति के योगी थे तथापि वे क्षात्र धर्म की रक्षा को समाज की भद्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक समझते थे। सैनिक शिक्षा के भी वे समर्थक हैं। उनके जीवनकाल का वातावरण समर कोलाहलों से कितना कलुषित था, यह दिखाया जा चुका है। अतः अपने समुदाय में परम्परा प्राप्त सैनिक शिक्षा को वे निरुत्साहित करना नहीं चाहते थे। युद्ध में भाग लेने से कोई दोष नहीं है। धर्म के लिए कर्तव्य की रक्षा के लिए युद्ध करना वीरों का परमोच्च आदर्श है। वीर राजाओं का सबसे बड़ा धर्म रणक्षेत्र में वीर मृत्यु स्वीकार करना है। युद्ध में मरकर वीर स्वर्ग की प्राप्ति केवल सुकृतियों को ही हो सकती है।[2] परन्तु रणांगण में धोखा और प्रवचना वे सब से अधिक हेयकार्य समझते हैं।[3] जब भीमसेन ने द्वंद्व-युद्ध में धोखे से दुर्योधन की जांघ पर प्रहार किया तब उनकी पक्षपात रहित चित्तवृत्ति आहत होकर चीत्कार कर उठती है। वे अनजान ही कह उठते हैं— अय्यो कष्टम। (Alas! what a pity!) 'भीमसेन की समस्त करतूतों को मैं क्षमा कर देने को तैयार हूँ पर यह प्रवचना उनकी दृष्टि में क्षम्य है।'[4] युद्ध में पराजितों के प्रति तुंचन की पूर्ण सहानुभूति है। वे हमेशा पराजितों के पक्ष की पूरी सहृदयता के साथ ही प्रस्तुत करते हैं।[5] पराजितों के प्रति उपेक्षा का मनोभाव उनके उद्धार के कार्य में सहायक नहीं यही तुंचन का अभिप्राय है। इसी के द्वारा उन्होंने पराभूत तथा निराश जनता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान सम्भव कर दिया।

---

1. 'रामायण अयोध्याकांड' पृ० 86।
2. रामायण, युद्धकांड पृ० 444।
3. Foul play in battle aroused his indignation —Dr C A Menon Ezhutacchan and His Age p 165
4. Ibid p 165
5. Ibid

तुंचन का विश्वास है कि शासको के कुशासन के कारण ही राज्य मे अशान्ति, ईति-बाधा, बालको की मृत्यु, स्त्रियो का वैधव्य आदि कष्ट आ जाते है। राम के शासनकाल मे इन उपद्रवो का नाम तक नही था। वे राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता और पुत्र का ही सम्बन्ध समझते है। उनके आदर्श राज्य मे वर्णाश्रम व्यवस्था का सुचारु रूप से पालन होता है। कही किसी प्रकार का अत्याचार नही है। सब अपने-अपने स्थान पर सन्तुष्ट है। केवल राजा ही नही सारी प्रजा भी इन्द्रिय-संयम पर ध्यान देती है। तुंचन के अनुसार बिना वैराग्य और आत्मसयम के, अन्य समस्त समृद्धियो के रहते हुए भी, वास्तविक आनन्द की अनुभूति असम्भव है। उनके भगवान श्री रामचन्द्र प्रजा का परिपालन अपनी सन्तान के समान ही करते रहते है। प्रजा मे पारस्परिक मत्सर या कलह का अवसर ही अस्तप्राय है। प्रजा मे परस्पर प्रेम और सहानुभूति की स्थापना किये बिना किसी राज्य का विकास नही हो सकता।[1] रामराज्य का वर्णन करते हुए वे लिखते है—'भगवान के शासनकाल मे समस्त पृथ्वी-मंडल सस्यश्यामल हो गया। प्रत्येक गृह मे आनन्द तथा उत्साह का अतिरेक छा गया। वृक्ष सुमधुर तथा स्वादिष्ट फलों से झुक गये थे। निर्गन्ध पुष्प भी सुरभित हो गये थे। महाराजा रामचन्द्र ने सैकड़ो की सख्या मे गाय, घोड़े और असख्य परिमाण मे स्वर्ण, वस्त्र, आभूषण आदि ब्राह्मणो को दान मे दे दिये।'[2]

राज्य कार्यो के सचालन के विषय मे प्रजा की अभिलाषा—आकांक्षाओं का ज्ञान तुचन आवश्यक समझते है। यद्यपि यह आशय भारतीय राजनीति के इतिहास मे एकदम नयी वस्तु नही है फिर भी हमारे कवि ने उस विचारधारा को अत्यन्त प्रमुख स्थान दे दिया है। उसने प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य मे सलग्न होने के पहले अनुभव सम्पन्न मत्रियों और उपदेशको से सत्परामर्श ले लेना राजाओ के लिए अत्यावश्यक ठहराया है।[3]

मर्यादावाद की प्रतिष्ठा तुलसीदास के समान ही तुचन ने भी अपने पात्रों के प्रत्येक व्यवहार मे की है। उनके राम के प्रत्येक आचरण में व्यवहार कुश-

---

1. 'रामायण,' युद्धकाण्ड, पृ० 476।
2. वही, पृ० 473।
3. वही, पृ० 331।

लता और विनय मधुरिमा के साथ पुनीत मर्यादा का भी सयोग हुआ है। उदा हरण के लिए, राम लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ जनकपुरी म पहुच जाते हैं। विश्व विख्यात धनुष देखने और उस पर प्रत्यचा चढाने की इच्छा स्वाभा विकतया ही क्षत्रिय कुमार रामचन्द्र मे उत्पन्न हो जाती है। परन्तु सकोचवश वे पूछते हुए हिचकते हैं। उनके प्रश्न की रीति म किस प्रकार मर्यादा का पालन किया गया है देखिए— क्या गुरुदेव' मैं इस धनुष को जरा उठाऊँ और उस पर डोरी चढाऊ ?[1] 'सस्कृत के अध्यात्मरामायण के राम इसकी जरूरत ही नही समझते। धनुष देखत ही व उस पर प्रत्यचा चढाने को तैयार हो जाते हैं—

> 'दष्टवा राम प्रहृष्टात्मा। बध्वा परिकर दृढम
> गृहीत्वा वामहस्तन। लीलया तोल्यन धनु
> आरोपयामास गुण। पश्यत्स्वखिल राजसु॥ [2]

वैसे ही जब लक्ष्मण क्रोधावेश से महाराज दशरथ के विरुद्ध कुछ कहने लगते है तब भी रामचन्द्र उन्हें शान्त कर देते हैं।[3] ठीक यही स्थिति चित्रकूट मे भरत के सम्बन्ध मे भी देखी जाती है। भरत का कथन क्रोध मूर्छित उदगारो के समान तीक्ष्ण नहीं है फिर भी राम उतना भी सहने का तैयार नहीं हैं। अन्य पात्रो म भी मर्यादापालन उचित मात्रा म पाया जाता है। सीतादेवी की वन जाने की अभिलाषा प्रकट करने वाली जो उक्तिया हैं वे मर्यादावाद के साथ ही साथ आदश भारतीय नारी का हृदय भी हमारे सामने खोल देती हैं। कही कही तु चन के पात्रो की उक्तियो म कुछ न कुछ अरोचकता की झलक भी आ गई है। विशेषकर सम्बोधन के लिए प्रयुक्त शब्दो क अनौचित्य के कारण ही यह हो गई है। जैसे पार्वती द्वारा शकर का सबोधन गगाकामुक शब्द से करा देना कुछ खटकता है। पर तुलसी के ग्रन्थो म ऐसी खटकने वाली बात कही भी नही पाई जाती है।

---

1 'रामायण बालकाण्ड पृ० 39।
2 'अध्यात्मरामायण (गीताप्रेस सस्करण) बालकाण्ड, सग 6 श्लोक 23 24।
3 'रामायण अयोध्याकाड पृ० 82।

एक सामान्य अवलोकन

ऊपर के विवेचन से हमारे आलोच्य दोनो कवियो के समाज सम्बन्धी मतो का थोडा बहुत परिचय हो गया होगा। स्थूल दृष्टि से देखने पर भी दोनो के विचारो और सिद्धान्तो मे काफी समानता लक्षित हो सकती है। दोनो जन-साधारण के जीवन के क्षेत्र से दूर रहकर केवल प्रेक्षक के रूप मे समाज संबधी मत निर्धारित नहीं करते थे। व्यक्ति का समाज से पृथक-भूत जीवन प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध है। क्योकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास समाज के साथ उसके सम्पर्क के द्वारा ही सम्भव है।[1] विना सामाजिक अनुभूतियो से तादात्म्य पाये कोई व्यक्ति अपनी क्षमता-अक्षमता का वोध नही पा सकता और सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्ति किये विना वह स्वयं अपनी अन्तरंग शक्तियों का भी विकास नही कर पाता।[2] अतएव सच्चे कलाकार या कवि जनता के हास-रुदनमय नित्य जीवन से अपने प्रतिभा-विलास की सामग्री जुटा लेते है। मनुष्य की अनुभूति की उर्वरा भूमि ही कलाकार की रचना को चिरस्थायिता के लिए आवश्यक जीवन-शक्ति प्रदान करती रहती है। सड़े-गले सामाजिक अनाचारो के प्रति अमर्ष दिखा देना, समाज के नवनिर्माण के लिए प्रयत्न-शील सभी लोगो को चाहे वे कवि हो या धर्म-प्रवर्तक हो या कोरे समाज-सुधारक, एक सीमा तक अनिवार्य ही है। हमारे कवियो की सुधारात्मक प्रवृत्तियो में एक सीमा तक यह विशेषता पायी जाती है। यद्यपि दोनो कट्टर प्राचीनता-वादी थे फिर भी उनकी धारणा की उपयोगिता विशेष काल परिधि मे असं-

---

1. "The life of the individual isolated from his fellows is a life against nature, and the real nature of the individual can, in consequence, only be developed in society."
—C.E.M. Joad,'Modern Political Theory' (Reprinted 1953, Oxford), p. 11.
2. "It is only by living in a society that a man can realize all that he has it in him to be, only by intercourse with his fellows, by the realization of social duties and the fulfilment of social obligations that he can develop his full self."

—Ibid, p. 11.

दिया था। संसार की समस्त बड़ी-बड़ी क्रान्तियों के मूल में भी प्राचीन किन्हीं आदर्शों की ओर मुड़ने की प्रवृत्ति स्पष्ट है।[1] अतः तुलसीदास और तुकाराम का सामाजिक आदर्श अतीत का रामराज्य रहा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आज भी हम ऐसे कितने ही समाज-सुधारकों को देखते हैं जो विचारधारा में आदर्शवाद से घिरे हुए हैं। पर ऐसे लोगों को इन जन हृदय कवियों की-सी सफलता नहीं मिलती। इसके अनेक कारण हैं। वर्तमान समाज-सुधारक अपनी प्रवृत्तियों को सामूहिक जनापेक्षा का निरादर कर अपनी व्यक्तिगत रुचि पर ही आधारित रखते हैं। वे जिनका उद्धार करने जाते हैं उनके दृष्टिकोण से अपने कार्यों की आलोचना नहीं करते। तुलसी और तुकाराम की विजय का रहस्य जनता की भावना को समझकर तदनुसार काम करने की उनकी शक्ति पर निर्भर है। उनका काव्य सस्ता मनोरंजन की सामग्री नहीं है। उसमें शक्ति और स्थिरता का रहस्य-स्वरूप ही पाया जाता है। डॉ० बनर्जी ने शक्ति काव्य को ही वास्तविक सुन्दर कला का नाम दिया है।[2] थोड़े बहुत अपवाद के साथ यह कहा जा सकता है कि तुलसी और तुकाराम द्वारा अनुशासित मार्ग पर ही उनके पश्चात् समाज संघटित हुए हैं।

समाज, राजनीति आदि के विविध रूपों के सम्बन्ध में इन कवियों ने जो आदर्श प्रस्तुत किए उनमें अगर किसी को परिवर्तन की आवश्यकता दिखाई पड़े तो उसमें कोई असंगति नहीं है बल्कि यह स्वाभाविक है। वर्णाश्रम व्यवस्था की अपरिवर्तनशीलता एवं राजसत्ता की ईश्वरांशता आदि आधुनिक विचारकों को खटकने वाली बातें हैं। इसका समाधान केवल इतना ही है कि वे दोनों कवि आधुनिक युग में जीवित रहने वाले नहीं थे। और कविता मानव के चिरंतन भावों से मूलतः सम्बद्ध है और अन्य सब बातें गौण हैं यह जब हम

---

1 A large element even in the French Revolution the greatest of all breaches with the past, had for its ideal a return to Roman republican virtue or to the simplicity of the natural man

—Gilbert Murray, Four stages of Greek Religion p 58 Quoted by Dr Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol I (1951) Intro p 47 (Foot Note)

2 De Quincey s Literary Theory (1943), p 119

समझ लेते हैं तब समस्या स्वयं समाधान पा जाती है।[1]

हमें, इन दोनो कवियो द्वारा बलपूर्वक उन्नति होने के कारण, इन प्रश्नों पर कुछ सतुलित मनोवृत्ति से विचार करने की आवश्यकता है। वर्णाश्रम धर्म के आधार पर मनुष्य समाज का विभाजन आधुनिक मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से केवल बूर्ज्वासी की विक्रिया मात्र कहा जा सकता है। किन्तु बडे आश्चर्य के साथ यह सूचित करना पडता है कि वर्तमान युग के दो सर्वश्रेष्ठ भारतीय समाजोद्धारको ने आधुनिक भारत के लिये भी—यंत्रयुग के भारत के लिये भी, वर्णाश्रम व्यवस्था को अत्यन्त उपयोगी माना है। कोई व्यक्ति यह नही कह सकेगा कि ऋषि दयानद और महात्मा गांधी दोनों ने अध परम्परा को प्रश्रय देने के लिये अथवा पतितो को हमेशा पतित बनाये रखने के लिये ही इस व्यवस्था का पक्ष-समर्थन किया था। फिर क्यो? अनादिकाल से भारतीय समुदाय इसी व्यवस्था पर सघटित है। क्या इसी कारण? नही, इतना ही नही, इसमे उन्होने अनेक गुण देखे। उनके अनुसार यह विघटन के लिये नही, बल्कि सघ-टन के लिये हैं। विद्वेप के लिये नही, प्रेम के लिये है। जन्मजात महत्ता पर किसी को ऊंचा स्थान देने के लिये नही, कर्मगत-आचारगत शुद्धता पर सबको ऊंचा उठाने के लिये है। उनके अनुसार इसमे दोष तभी संभव है जब वह अपरिवर्तनीय मान लिया जाय। किसी प्राकृतिक तत्व को अपरिवर्तनीय सम-झना, प्रकृति के—संसरणशील संसार के—नियमो के प्रतिकूल है। तभी विपमता पैदा हो जाती है।

परन्तु यह कहने मे सकोच नही करना चाहिये कि इस विषय पर हमारे कवि श्रेष्ठो का दृष्टिकोण उतना व्यापक नही था। संभवत: तत्कालीन परि-स्थिति मे वह असभव भी था। विशेपकर गोस्वामी जी परिवर्तन की ओर अधिक उदास दीख पड़ते है। संरक्षण की अतिमात्र व्यग्रता मे, उपेक्षणीय अंश के विसर्जन मे हमारे कवियो ने विमुखता प्रदर्शित की। अतएव उनकी संग्रहण-

---

1. 'Poetical works belong to the domain of our permanent passions · let them interest these, and the voice of all subordinate claims upon them is at once silenced."
—'The Poetical works of Mathew Arnold', First published in 1853. Reprinted 1953.
Preface by Mathew Arnold, p. XX.

शीलता यथेष्ट विकास प्राप्त नहीं कर सका। अन्यथा परवर्तीकाल म भारतीय वातावरण को अत्यन्त कलुषित बनाने वाले अनेक प्रश्नो का आविर्भाव ही नहीं होता। पूवकाल के आदर्शों के आलिगन में वे इतने आबद्ध रहे कि अनेक समकालिक और भविष्य के प्रश्नो की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। विण्टरनित्स ने भारतीय मनीषा का एक विशेषता की ओर बडी सचाई के साथ सकेत किया है। वह है पूवकाल की ओर अविरत आसक्ति उसकी उपरति म वतमान की विरति। यह कथन तुलसी और त्सु चन क युग की भारतीय मनीषा के लिये भी लागू हो सकता है। सक्षप मे प्रतिक्षण प्रवहमान, प्रतिपल बलाय मान विश्व के लिय परिवतनातीत सामाजिक नियमो की कल्पना हमारे कवियों ने की। परन्तु, इसके लिय वे दोषी नहीं हैं। उनकी सस्कृति शिक्षा परपरा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सब उसी के अनुरूप थी। भारतीय सस्कृति म पुनजन्म-वाद और कमवाद का जो महत्व है उसकी आड में हमारे कवियो का छूट देने की प्रवृत्ति समीचीन नहीं कही जा सकती। क्योंकि पुनज मवाद के सिद्धान्त ठीक हों या न हों, उसके सामने एक बडी भीषण और विकट समस्या सहार प्रवण इस्लाम के रूप म उठ खड़ी हुई थी जिसका परिहार परिस्थिति के प्रकाश म विशेष रूप से विचिन्तनीय था।

स्त्री जाति के प्रति गोस्वामी जी की भावना और तत्सबधी विवेचना इस परिच्छेद म अन्यत्र हो चुकी है। यहाँ पर इतना और निवेदन करना है कि स्त्री जाति के प्रति अवज्ञा और अवहेलना की दृष्टि, किसी के लिये भी—चाहे वह शकराचाय हो या तुलसीदास, नीशे हो या त्सुचन—अभिकाम्य नहीं है। क्योंकि उसका अथ विश्व की मौलिक सर्गात्मक शक्ति की ओर उपेक्षा ही मानी जा सकती है।

राजनीतिक दृष्टि तुलसी और त्सुचन दोनों की एकसी है। उसकी विवेचना के प्रसग म हमने देखा कि दोनो ने देश के विलुप्त क्षात्र तेज को फिर स प्रदीप्त करना चाहा है। उनके इस काय की कितनी ही प्रशसा की जाय थोडी ही होगी। इस विषय मे हमारे कवियो की दृष्टि अत्यन्त गहरी उतरी है। हनुमत्प्रतिष्ठा और पूजा क आरम्भ से गोस्वामी जी ने हिन्दू जनता की सुप्त नाडियो म सामरिक वीय का नया रक्त सचरित किया। वही समय रामदास के द्वारा महाराष्ट्र म भी अत्यन्त व्यापक रूप म फल सका। त्सु चन ने स्वय भी उसी विभाग म जन्म ग्रहण किया था जिसमे सनिक शिक्षा का बहुत बड़ा प्रचार परम्परा स ही था।

राजा या शासक का जो आदर्श दोनो कवियों ने सामने रखा है, वह हमेशा के लिये उपादेय ही है। राजं शब्द से यदि घृणा है तो उसके स्थान पर आजकल के नेता, मंत्री जो भी चाहें शब्द रख सकते हैं। सबके लिये यह आदर्श—स्वार्थ निरपेक्ष जनसेवा—सार्वकालिक आदर्शस्वरूप है।

किं बहुना, तुलसी और तुंचन दोनो ने क्रमशः उत्तर और दक्षिण भारत के तत्कालीन समाज का मार्ग प्रदर्शन करके उसे आपदाओ से विमुक्त किया और यह उन्ही महापुरुषो का महाप्रयास है कि समाज अपने अस्तित्व को आज भी सुरक्षित पा रहा है।

भक्ति और दार्शनिक मत

मध्यकालीन भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेपता है भगवद्भक्ति की ओर उसका लगाव। उस समय के हमारे प्राय सभी कवि मूलत भक्त थे और तदुपरान्त ही कवि। उनकी रचनाओं का प्राणभूत तत्व भक्ति है। फलत तत्कालीन साहित्य का वास्तविक मर्म समझने के लिये उसमे संनिविष्ट भक्ति तत्व का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

कहना नहीं होगा कि हमारा समस्त साहित्य आध्यात्मिक विचारो से अनुप्राणित है। यही नहीं, हमारा दर्शन भी हमारी धार्मिक भावनाओं से पथक नहीं है।[1] आधुनिक 'फिलासफी' शब्द का जो अर्थ लिया जाता है वस्तुत दर्शन का वही अर्थ नहीं लिया जाता। प्राचीन यूनान देश मे 'फिलासफी' (philo sophia) का अर्थ 'विद्याप्रेम' (love of wisdom) मात्र था और लगभग दो शताब्दी पूर्व तक यूरोप मे 'फिलासफी' और सयस मे कोई मतभेद नही माना जाता था। इधर भारत मे प्रारम्भ से ही ऐसे शब्दो का कुछ भिन्न अर्थ मे प्रयोग होता रहा है।

यहाँ धर्म के अन्तर्गत आचारो की सामूहिक एकता की अपेक्षा चारित्रिक महत्व का विशेष स्थान रहा और 'आचार परमो धर्म' कहा गया, और दर्शन प्रथमत ब्रह्मविद्या का ही विषय बन गया। उपनिषदो मे ब्रह्मविद्या को 'सर्व विद्या प्रतिष्ठा'[2] नाम से अभिहित किया गया है। कौटिल्य ने दर्शन को समस्त विद्याओं का दीप ठहराया। मनुसंहिता' मे कर्म बन्धन से मुक्ति का उपाय

---

1 Philosophy in India includes not only morality but religion also
—Dr S N Dasgupta—History of Indian Philosophy, Vol III (1932) Introduction p VIII

2 'मुण्डकोपनिषद', मुण्डक 1, खण्ड 1, मन्त्र 1।

दर्शन सिद्ध किया गया है।[1] दर्शन, भारत मे, स्वतन्त्र ज्ञान है और अन्य ज्ञान उसके आश्रित।[2]

उपासना के तीन मार्ग

हमारे यहाँ जीवन का परमोच्च लक्ष्य संसार-बधन से छुटकारा पाना ही माना गया है। इसी परमपद प्राप्ति के लिये ज्ञान, कर्म और भक्ति के त्रिविध मार्ग पहले से ही निर्धारित किये गये है। भिन्न-भिन्न आचार्यो ने इन्ही के आधार पर अपने-अपने सिद्धान्तो की स्थापनाये की हैं। एक बात हमे नही भूलनी चाहिए कि ये तीनो मार्ग एक दूसरे के पूरक हैं, न कि विरोधी। ज्ञान की श्रेष्ठता तभी है जब वह जगत् के किसी काम का हो, अन्यथा कर्म या क्रियाजगत् से सर्वथा असबद्ध होने पर उसका प्रयोजन ही क्या ? वह केवल शुष्क बौद्धिक प्रक्रिया के सिवा और कुछ नही रह जायगा। ज्ञान के बिना कर्म पंगु ही कहा जा सकता है। ज्ञान विहीन कर्म अवश्य पथच्युत होगा। मनुष्य की आसुरी वृत्ति को उभाडने के सिवा वह और क्या करेगा ? अतः इन दोनों को सयत रखने के लिये भक्ति अथवा आत्मसमर्पण करने वाली बुद्धि की आवश्यकता पडी। उसके बिना ये सब निष्प्रयोजन प्रतीत हुए। यही कारण है कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने धर्म की पूर्णता के लिये इन तीनो अंगो का उसमे समावेश किया है। इनकी सतुलित भावना मे ही धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति सभव है। आधुनिक विद्वानो ने भी emotion, intellect and will के पूर्ण सामजस्य मे ही शाति या समरसता को संभव माना है।

यद्यपि इन तीनो मार्गों मे से एक को दूसरे से हेठा ठहराना ठीक नही, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से भक्तिमार्ग अत्यन्त सरल बतलाया गया है।[3] 'तदेव

---

1. 'सम्यग् दर्शन सपन्न. कर्मभिर्ननिबध्यते।
   दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते॥
   —'मनुसंहिता', 6।74।
2. 'In India Philosophy stood on its own legs and all other studies looked to it for inspiration and support'.
   —Dr. Radhakrishnan—'Indian Philosophy', (1951), Intro. p. 23.
3. 'योगिनामपि सर्वेषा मद्गतेनान्तरात्मना।
   श्रद्धावान् भजते यो मा स मे युक्ततमो मतः॥ —गीता, 6।46।

कर्मिभ्यानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात[1] शाण्डिल्य सूत्र म कहा गया है। इसका तात्पय यह नही समझना चाहिये कि भक्ति से ज्ञान और कम सवथा पृथक किये जायँ। रामानुज ने गीता भाष्य के प्रारम्भ म 'ज्ञान कर्मानुगृहीत भक्ति-योगम कहकर भक्ति के लिये ज्ञान और कम को अनिवायता स्थिर की है। आपेक्षिक दृष्टि से ज्ञान के लिये सूक्ष्म चिन्तन विवेक एव बुद्धि व्यायाम की अधिक आवश्यकता है और कम के लिये अनेक विधि निषेधमय आचरणो की अपेक्षा भी असदिग्ध है परन्तु भक्ति म सर्वात्मना भगवान के सामने आत्मसमपण की प्रवृत्ति की मुख्यता होने के कारण उसम सरलता अवश्य अधिक है। अनन्य चित्त होकर जो भगवान की पयु पासना करते हैं उनके योगक्षेम की चिन्ता स्वय भगवान ही करते हैं।

भक्ति का द्वार सबके लिये खुला है, समान रूप से। उसके द्वार पर न पडित मूख का भेद है और न ऊ च नीच का विचार। ज्ञान और कम के लिये अधिकारी भेद निर्धारित है। पर भक्ति के लिये सभी अधिकारी हैं।[3] शत केवल यही—परानुरक्ति[4] प्रेम[5] या बानट के श ब्द मे 'गोडवाड-सेल्फ-सरेंडर'। जिस प्रकार भोजन करते समय प्रत्येक कौर क साथ तुष्टि पुष्टि और क्षुधा निवृत्ति होती है उसी प्रकार भक्ति से भी तीनो बातें (ईश्वर प्रम ईश्वरानुभूति और वराग्य) एक साथ प्राप्त होती हैं—

भक्ति परेशानुभवो विरक्ति—
रन्यत्र चष त्रिक एककाल।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नत स्यु—
स्तुष्टि पुष्टि क्षुदपायोऽनुघासम्॥
—(श्रीमदभागवत 11|2|42)

अबोध गोपनारियाँ इसी के बल पर परमपद प्राप्त कर सकी।[6]

---

1 शांडिल्य भक्तिसूत्र, द्वितीय आह निक सूत्र 22।

2 गीता, 1|22।

3 डा० राधाकृष्णन् — इण्डियन फिलासफी', वाल्यूम 2 (1951) पृ० 706।

4 सा परानुरक्तिरीश्वरे, शांडिल्यभक्तिसूत्र प्रथम अध्याय प्रथम आह निक, सू० 2।

5 सात्वस्मिन परम प्रेमरूपा, नारद भक्तिसूत्र, सू० 2।

6 मयिभक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्टया यदासी मत्स्नेहो भवतीना मदापन॥—(श्रीमद्भा० 10|82|45)

भक्ति का उद्‌गम और विकास

भक्ति के उद्‌गम और विकास के सम्बन्ध में विद्वानो मे कुछ समय पूर्व तक काफी मतभेद रहा। 'महाभारत मे लिखा है कि नारद मुनि ने श्वेतद्वीप से भक्ति का आनयन किया था। इस श्वेतद्वीप को लेकर यूरोपियन पडितो ने बडी-बडी थीयोरियाँ खडी की हैं। किसी ने कहा कि यह अलग्जेंड्रिया है, दूसरे ने वैक्ट्रिया बताया है और तीसरे ने इसिकुलहद।[1]

ग्रियर्सन साहब और केन्नडी प्रभृति विद्वानो ने भक्ति को हिन्दू धर्म मे ईसाइयत से सक्रमित समझा है। इसके लिये ग्रियर्सन साहब का दावा है कि हिन्दू धर्म अपने सम्पर्क मे आने वाले सभी तत्वो को आत्मसात् करने वाला धर्म है।[2] केन्नडी महोदय ने एक दम आगे बढकर प्रख्यापित किया कि 'हिन्दू जाति एक ऐसी जाति है जो दूसरो का सब कुछ स्वीकार करते हुए भी उस स्वीकृति को मान लेना कदापि पसद नही करती और हिन्दू धर्म एक ऐसा निर्झर है जो सब कुछ अपने मे समा लेता है।[3] भक्ति को ईसाइयत से सक्रमित समझने वाले विद्वानो का अनुमान है कि ईसा की प्रथम शताब्दी मे ही ईसाई धर्म मलाबार मे पहुँच गया था और वहाँ के जिन हिन्दुओ ने धर्म परिवर्तन किया उनके सम्पर्क से धीरे-धीरे भक्ति को हिन्दू धर्म ने अपना लिया। यही वैष्णव मत के रूप मे समस्त भारत मे फैल गया। इनके अनुसार तमिलनाड के प्रसिद्ध सत तिरवल्लुवर स्वय ईसाई थे या कम से कम ईसाई धर्म से प्रभावित थे। ये कहते हैं कि ईसामसीह के शिष्य मार थॉमा (सत थामस) स्वय दक्षिण भारत आये थे और इनकी समाधि अब भी मद्रास के 'माइलापुर' नामक स्थान मे सुरक्षित है। आधुनिकतम खोजो के आधार पर इनमे से अधिकतर बातें अप्रामाणिक सिद्ध हुई हैं। ट्रावनकोर के प्रसिद्ध इतिहास और पुरातत्ववेत्ता ईसाई विद्वान श्री० टी० के० जोसफ ने दिनांक 13-5-1959 के अपने एक पत्र मे इन पक्तियों के लेखक को लिखा है कि हिन्दू

---

1. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'सूर साहित्य' (सशोधित संस्करण 1956), पृ० 2-3।
2. George A. Grierson—'Journal of the Royal Asiatic Society', 1907, p 311.
3. J. Kennedy, Ibid, p. 957.

धर्म मे भक्ति ईसाइयत की देन मानना निरी मूर्खता है। आपके अनुसार ईसा से पहले भी उच्चकोटि के अनेक संत महात्मा दक्षिण में विशेषकर केरल में वर्तमान थे। आप सेंट थामस का ईसाई धर्म प्रचारार्थ दक्षिण भारत आना भी ऐतिहासिक प्रमाणों के विरुद्ध समझते हैं।[1] आप शंकराचार्य की उपासना पद्धति को सगुण भावापन्न समझने के पक्ष में हैं। जो भी हो भक्ति को विदेशी चीज समझने वाले पंडितों के विचारों को इस समय कोई महत्व नहीं दिया जाता। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'सूर साहित्य' में पुष्कल प्रमाणों के आधार पर इनका खंडन किया है।[2] कीथ विण्टरनित्ज आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनका निराकरण किया है। द्विवेदी जी के अनुसार स्वयं ग्रियर्सन महोदय को अपने विचारों में सन्देह करने का अवसर आ गया था।[3] एनसाईक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड एथिक्स' के सन् 1953 वाले पुनर्मुद्रण में यह असंदिग्ध भाषा में मान लिया गया है कि हमारा भक्ति सिद्धान्त किसी बाहरी धर्म की देन नहीं है प्रत्युत उसकी जन्मभूमि भारत भूमि ही है। एनसाइक्लोपीडिया से प्रसक्त भाग यहां उद्धृत किया जाता है—

The question as to how far Christianity has influenced the Bhaktimarga has been much discussed We have seen that it must now be taken as settled that the idea of Bhakti is native to India and that the existence of Bhagavatha monotheism can be traced to very ancient times [4]

कुछ विद्वानों के अनुसार भक्ति में आर्यों के आगमन के पूर्व के भारतीयों की उपासना पद्धति थी और वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के रूप में इसका पूर्ण विकास पीछे हुआ।[5] जो भी हो संसार के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों में भक्ति का स्पष्ट आभास परिलक्षित होता है[6] और भागवत धर्म का प्रचार ईसा के

---

1 'Kerala Emperors who became Bauddhas (Non Hindus) A paper for the Indian History Congress Session, Trivendrum Dec 1958 by Shri T K Joseph p 1

2 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी— सूरसाहित्य' (1956) पृ० 2 से 21 तक।

3 वही पृ० 18।

4 Encyclopaedia of Religion and Ethics, (1953) Vol II p 548

5 K. A Nilkantha Sastri— The Bhakti Cult (Article) The Illustrated Weekly of India March 15 1959 p 27

6 Dr Radhakrishnan— Indian Philosophy, Vol II (1951) p 704

कम से कम दो शताब्दी पूर्व भी वर्तमान था ।[1] पचरात्र सिद्धान्तो की प्राचीनता ऋग्वेद के पुरुषसूक्तो के समय तक पहुँचती है ।[2] यामुन आचार्य का कथन है कि पचरात्र सिद्धान्तो की रचना स्वय ईश्वर ने इस उद्देश्य से की जिन लोगो के लिए वैदिक कर्म मार्ग आचारो की विशालता और दुरूहता के कारण कष्टसाध्य प्रतीत होता हो, यह सरल मार्ग उनके लिये उपयोगी सिद्ध हो जाय । इससे स्पष्ट है कि जनसाधारण का झुकाव भागवत धर्म की ओर अति-प्राचीन काल से था । भडारकर कहते हैं कि भागवत धर्म यवनो (ग्रीक) के बीच भी प्रचलित था ।[3] और पाणिनि के समय मे भी वासुदेव देवता के रूप मे पूजे जाते थे—विद्वानो ने यह भी सिद्ध कर दिया है ।[4] परवर्ती युग मे वैदिक देवता विष्णु और नारायण, छादोग्य उपनिषद् मे प्रतिपादित कृष्ण (अंगिरस के शिष्य और देवकी के पुत्र), मथुरा के वालगोपाल वृष्णियो के नायक, राजपूत कृष्ण सबका सम्मिश्रण हो गया ।[5] पौराणिक धर्म और अवतारवाद के साथ वासुदेव धर्म वैष्णवधर्म के रूप मे समस्त भारतवर्ष मे प्रचलित हो गया ।

आलवार संत

वैष्णव आचार्यों मे भक्ति की पराकाष्ठा तक पहुँचने वाले, भावावेश से अपने अस्तित्व और लौकिक विषयो तक को विस्मृत करने वाले दक्षिण के प्रसिद्ध आलवार संत हुए । डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त का मत है कि 'आलवार सतो की साधना की ओर ध्यान दिये बिना भक्ति की चर्चा हो ही नही सकती ।'[6] आलवार सतों के समय के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है । परम्परा के

---

1. Dr. S.N. Dasgupta—'History of Indian Philosophy', (1933), Vol. III, p. 18.
2. Ibid., p. 12
3. R. G. Bhandarkar—'Vaishnavism, Saivism and Minor Religious Systems' (1913), p. 14.
4. Ibid , p. 9.
5. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'सूरसाहित्य', 1956, पृ० 11-12 ।
6. Dr. S. N. Dasgupta—'History of Indian Philosophy', Vol. III, Introduction., p. VII.

अनुसार सबसे प्राचीन आलवार का समय ई॰ पू॰ 4307 है और नवीनतम आलवार का समय ई॰ पू॰ 2706।[1] आधुनिक शोध के आधार पर ई॰ सन् की सातवीं या आठवीं शती प्राचीनतम आलवार संत का समय निश्चित किया गया है। आठवीं शताब्दी में चोल और पाण्ड्य देश में वैष्णवमत एवं अद्वैतमत का भारी आन्दोलन हो चल रहा था। भागवतपुराण के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उन दिनों दक्षिण भारत भक्ति सिद्धान्त का सबसे बड़ा केन्द्र था।[2] भागवत पुराण के प्रचार से भक्ति आन्दोलन समस्त भारतवर्ष में व्याप्त हो गया।

डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कम से कम नौ आलवारों को ऐतिहासिक माना है, यद्यपि इनकी संख्या बारह बतलाई जाती है।[3] रामानुजाचार्य के शिष्य पिल्लान ने शठकोपाचार्य की दिव्यवाणियों की व्याख्या करते हुए आलवारों की नामावली (अण्डाल को छोड़कर) इस प्रकार दी है—

भूत सुरश्च महदन्वय भट्टनाथ
श्री भक्तिसार कुलशेखर योगिवाहान्।
भक्ताङ्घ्रिरेणु परकाल यतीन्द्र मिश्रान
श्रीमत्पराङ्कुश मुनि प्रणतोस्मि नित्यम्॥

एक आलवार अण्डाल महिला थी जो नम्मालवार (शठकोपाचार्य) की दत्तक पुत्री थी। इन आलवारों में बहुत से निम्न समझी जाने वाली जाति के ही लोग थे। स्वयं शठकोपाचार्य (नम्मालवार) शूद्र कुलोत्पन्न थे।

इनकी रचनाओं में भगवत्प्रेम की इतनी तीव्रधारा पाई जाती है कि वह समस्त जागतिक व्यवधानों को विपाटित करती हुई ही भगवान के श्री चरणों की ओर बढ़ती है। इनकी एक विशेषता यह है कि इन्होंने कान्ताभाव की भगवदाराधना अपनाई है। इसी से फिर प्रपत्ति का विकास हो जाता है जिसमें सब कुछ छोड़कर भगवान की ही शरण ली जाती है—

---

1 S K Ayangar— Early History of Vaishnavism in South India pp 4 13

2 Dr S N Dasgupta— History of Indian Philosophy Vol III p 63

3 डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी— हिन्दी साहित्य की भूमिका, पाँचवीं बार, (1954) पृ॰ 45।

अनन्य साध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वास पूर्वकम् ।
तदेकोपायता याच प्रपत्तिः शरणागति. ।।

इस स्थिति मे भक्त के व्यक्तित्व का, उसकी समस्त कामनाओ का भगवान् में तादात्म्य हो जाता है। वह हमेशा ब्रह्मानद की लहर मे मस्त रहा करता है। शठकोपाचार्य जीवनपर्यन्त अपने को नारी और पुरुषोत्तम भगवान को प्रेम-पात्र समझकर उनकी आराधना मे निरत रहते थे। प्रेम की पराकाष्ठा मे वे समस्त लौकिक अनुभूतियो से परे हो जाते थे—

'त पुरुपार्थमितरार्थरुचेर्विवृत्या
सान्द्रस्पृहः समयदेशविदूरगं च ।
ईप्सुः शुचा तदनवाप्ति भुवा द्वितीये
स्त्री भावनंसमविगम्य मुनिर्मुमोह ।।'

—(द्राविडोपनिषत् तात्पर्य, हस्तलिखित)

नम्मालवार के अनुराग-मूर्च्छित प्रेमोद्गारो का बहुत सुन्दर अनुवाद हूपर ने अंग्रजी मे किया है।

अंदाल अपने को भगवान के लिए तडपने वाली विरहविधुरा गोपी समझती थी। उसके अनुसार वह स्वयं रंगनाथ (श्रीकृष्ण) की पत्नी ही थी। उसके जीवन का प्रत्येक क्षेत्र प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा मे व्यतीत हो जाता था। कुछ लोगों ने इसे पूर्व-जन्म की राधा भी कहा है।

आलवार सत धार्मिक दृष्टि से वैष्णव थे। वैष्णवो के अलावा शैव सिद्धान्त के अनुयायी भी अनेक भक्तगण उन दिनो दक्षिण-भारत मे थे। वे भी भगवद्भक्ति की अमृतधारा बहाकर निज-हृदय और जन-हृदय को आनंदोत्फुल्ल कर रहे थे। ये भक्त 'नायनार' कहे जाते है। इनकी सख्या 64 कही जाती है। इनके सम्बन्ध मे अभी तक शोधकार्य बहुत कम ही हुआ है। पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि इनमे से दो-तीन भक्त केरल-निवासी थे। नायनार भक्त ईसा के पहले के है, इसमे कोई मतभेद नही। जब इनकी पूर्ण जानकारी हमे प्राप्त होगी तब भारतीय साधना के इतिहास मे एक नया अध्याय ही उद्घाटित हो जायेगा। इस परम्परा पर आधारित करके ही हमे तुंचन की भक्ति-भावना और दार्शनिक मत का अवलोकन करना चाहिये। शकराचार्य भी इसी शृंखला की एक कडी है। प्रसिद्ध कवि और भक्त

कुलशेखर आलवार (दसवीं सदी) ट्रावनकोर के राजा थे। इससे भलीभाँति व्यक्त हो जाता है कि मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का मूल उद्गम कितना गहरा था और प्रागैतिहासिक काल से ही उसकी जड़ इस देश की मिट्टी में कितनी जम चुकी थी। ग्रियर्सन साहब ने मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन को भ्रमवश ही आकस्मिक मान लिया था। उसके लिए कितने वर्षों से धीरे धीरे मसाला एकत्रित हो रहे थे[1] यह सब सर्वथा व्यक्त हो चुका है।

शंकराचार्य को जैसा कि प्राय समझा जाता है भक्ति का विरोधी समझना उतना समीचीन प्रतीत नहीं होता। शंकराचार्य का दर्शन अद्वैतवाद उपासना और भक्ति को स्थान नहीं देता, इसमें संदेह नहीं है। पर सगुणोपासना की आवश्यकता और अनिवार्यता को उन्होंने भी स्वीकार किया था। उनके द्वारा रचित विविध देवतापरक स्तोत्र जिनमें साहित्य और भक्तिभावना का अपूर्व सम्मेलन हुआ है इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। मैक्समूलर ने लिखा है है कि स्वयं शंकर और बादरायण दोनों ने दो प्रकार के ज्ञान का ही नहीं दो प्रकार के ब्रह्म (सगुण निर्गुण) का भी अस्तित्व मान लिया था।[2] पंडितों का अनुमान है कि शंकराचार्य के शिष्यों ने ही अद्वैतवाद को मानव जीवन से असंबद्ध केवल तार्किक बुद्धि का खाद्य पदार्थ बना दिया।[3] जो भी हो शंकर सिद्धान्त में भक्ति का स्थान नहीं के बराबर ही था। उसमें आत्मपरमात्मा का का अभेदत्व असंदिग्ध रूप से स्वीकृत होने के कारण भक्ति और उपासना का जिसके लिये सगुण ईश्वर की अनिवार्य आवश्यकता है विकास संभव नहीं है। यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों ने उनका घोर विरोध किया और द्वैत विशिष्टाद्वैत आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की। भक्ति के लिये द्वैत भावना अनिवार्य है। सेवक और सेव्य के बिना भक्ति कैसे संभव हो सकती? इसी आधार पर परवर्ती आचार्यों ने शंकर सिद्धान्त का खण्डन किया। रामानुज आचार्य ने विष्णु की उपासना पद्धति चलायी और वल्लभ आचार्य ने भगवान श्रीकृष्ण के मधुर रूप की उपासना को प्रोत्साहन दिया। इन आचार्यों

---

1 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य' (1952) पृ० 89।
2 Max Muller—The Six systems of Indian Philosophy (1899) p 220
3 Dr Radhakrishnan—Indian Philosophy, Vol II 1951 p 661

के समूह मे सबसे अधिक जन-हृदय को पहचानने वाले रामानंद जी हुए। सच पूछा जाय तो रामानंद ने ही भक्ति को सार्वलौकिक रूप दे दिया। दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ होते हुए भी शकरवाद को जनता की स्वीकृति नही मिली, कारण था कि मानव की स्वाभाविक भावना और धर्मतत्परता से उसका कोई सम्बन्ध नही था।[1] वैष्णव मत की सगुण उपासना की प्रारंभिक वेला मे उपासको मे किसी प्रकार का संघर्ष नही था। परन्तु आगे चलकर स्थिति कुछ की कुछ हो गयी। केवल शैवो और वैष्णवो मे ही वैमनस्य बढता गया, यह बात नही, स्वयं वैष्णवो मे भी भेद-बुद्धि बढ़ती गयी।

रामानुजाचार्य के समय मे ही प्रपत्ति की व्याख्या पर थोड़ी बहुत भिन्नता आने लगी थी। रामानुज ने अपने भक्ति मार्ग मे सबको समानता का स्थान दिया था। वे स्वय शूद्र के शिष्य भी थे। परन्तु वेंकटनाथ (सन् 1360) के के समय तक भेदभावना बहुत बढ गयी। वैष्णवो मे दो शाखाये भी हो गयी वडकलै और तेंकलै। वडकलै के नेता थे वेकटनाथ और तेंकलै के पिल्लैलोकाचार्य। प्रारम्भ मे इन दोनो शाखाओ मे कोई कलह तो नही था, पर पीछे उन दोनो मे काफी वैमनस्य हो गया। कहते है, आज भी यह भेदभाव मद्रास मे अनेक कलहो का कारण बना हुआ है। तेकलै के अनुसार परम भक्त होने पर म्लेच्छ भी ब्राह्मणो से विशिष्ट और पूज्य है पर वडकलै के मत से नीच जाति का भक्त अवश्य आदरणीय है, पर वह ब्राह्मण के समान पूज्य नही हो सकता। रामानुजाचार्य ने भी कहा है कि नीच जाति का मनुष्य भगवद्भजन करके भावी जन्म मे ब्राह्मण हो जाय तभी वह ब्राह्मण के तुल्य माना जा सकता है।[2] दार्शनिक दृष्टि मे भी दोनो मे अन्तर आ गया। तेकलै के अनुसार प्रपत्ति ही एकमात्र मुक्तिमार्ग है और उसकी सिद्धि होने पर मानव के प्रयत्न की कोई जरूरत नही, परमात्मा स्वय उसका सब कार्य सरल और सुलभ बना देगा। वडकलै का मत है, प्रपत्ति ही एकमात्र मार्ग नही है, वह परमात्म-प्राप्ति के

---

1 "If a system of thought cannot justify fundamental human instincts and interpret the deeper spirit of religion, it cannot meet with general acceptance".
—Dr Radhakrishnan—'Indian Philosophy', Vol. II. (1951), p 659.

2. Dr. Radhakrishnan—Ibid., p. 709.

अनेक मार्गों में से एक है। मोक्ष के लिये मानवप्रयत्न अपेक्षित है। तेंकलै प्राचीन आलवार संतों की विचारधारा से सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिक निकट कहा जाता है।[1]

उपासना के क्षेत्र में रामानुज ने भेदभाव को उचित नहीं माना था। 'नास्ति तेषु जातिविद्यारूप कुलधनक्रियादि भेद'[2] क्योंकि भक्ति सिन्धु में निमग्न मानवात्मा को किसी नियम का आलंबन आवश्यक नहीं है। 'अत्यंत भक्तियुक्तानां न च शास्त्रं न च क्रम' पर रामानुज की यह सद्भावना केवल उपासना के क्षेत्र तक ही सीमित रही। व्यावहारिक क्षेत्र में वे जाति भेद के कट्टर समर्थक थे। यही बात हम तुलसी आदि भक्त कवियों में भी पाते हैं। भक्त लोग भक्ति के पावन मंदिर में समस्त जीवों की समानता अपना लेते हैं, पर व्यावहारिक क्षेत्र के सनातन नियमों का उल्लंघन उन्हें अभीष्ट नहीं है।

उत्तर भारत की संत परम्परा में भी ठीक इसी प्रकार का विचार भेद हम पाते हैं। कबीर, दादू, नानक आदि निर्गुणियों संतों में जाति की अपेक्षा भक्ति या ज्ञान की मान्यता अवश्य अधिक है। 'जाति न पूछो साधु की पूछि लीजिय ज्ञान' वाली कबीरदास की उक्ति तो प्रसिद्ध ही है। किंतु तुलसीदास जी समाज की सनातन प्रथाओं की ओर अधिक झुके हुए हैं—

'पूजिय विप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुनगन ज्ञान प्रवीना।।'

यही उनका आदर्श है। मीराबाई और सूरदास आदि वैष्णव भक्तों में भावावेश वाली भक्ति की प्रधानता है सूरदास जी तो शास्त्र स्थिति रक्षा की ओर अधिक ध्यान नहीं देना चाहते। भक्ति के मकरंद पान में वे इतने मग्न हैं कि बाह्य जगत की क्या स्थिति है, यह उनका ज्ञातव्य विषय ही नहीं रह जाता।

भक्ति को अति विपुल एवं अग्नि व्यावहारिक क्षेत्र में भी पनपने देने का काम रामानुज की ही परम्परा में आने वाले महान जननायक भक्त रामानन्द के द्वारा सम्पन्न हुआ। वास्तव में भक्ति आन्दोलन के उन्नायकों में उसे सार्वजनीन बनाने का श्रेय स्वामी रामानन्द को ही दिया जाना चाहिए। उन्होंने

---

1. Dr Radhakrishnan—Indian Philosophy Vol II (1951) P 706
2. नारदभक्ति सूत्र सू॰ 72।

कहा—किसी व्यक्ति से उसकी जाति की पृच्छा मत करो। जो भगवान की आराधना करता है, वह भगवान का अपना ही है[1]—चैतन्य महाप्रभु ने भी यही विचार अपनाया था। स्वामी रामानन्द जी निरर्थक आचारो के अत्याचारो का पात्र स्वयं वन चुके थे। कटु अनुभूतियो ने उनकी अन्तरदृष्टि को खोल दिया। उन्हे रामानुजी सप्रदाय से इसी से सम्वन्ध विच्छेद तक करना पडा।[2] उन्होने अपने सप्रदाय को समस्त सकीर्णताओ से परे रखा। विष्णु के अवतार राम को आराध्य माना, अन्य अवतारो के प्रति सम्मान और आस्था रहते हुए भी राम का महत्व कलियुग मे सर्वोच्च स्थापित किया।[3] रामानन्द वास्तव मे पतित जनता के हृदय मे आशा का मगलदीप जलाने वाले महात्मा थे। भारतीय धर्म और चिन्तन-पद्धति के कटु आलोचक विश्वविख्यात डा० श्वेट्जर ने भी रामानन्द की प्रवृत्तियो की महानता स्वीकार की है।[4] 'सच पूछा जाय तो मध्ययुग की समग्र चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे। प्रसिद्ध है कि भक्ति द्राविड़ देश मे उत्पन्न हुई थी। उसे उत्तर भारत मे रामानन्द ले आये और कवीरदास ने उसे सप्त द्वीप और नवखड मे प्रकट कर दिया।'[5]

सस्कृत के उद्भट् विद्वान होते हुए भी रामानन्द ने देशभाषा मे कविता लिखी। ब्राह्मण से चंडाल तक को रामनाम का उपदेश दे दिया। इनके वारह शिष्य है जिनमे से कई नीच कही जाने वाली जातियो मे उत्पन्न हुए थे। रैदास, कवीर, धन्ना, सेना, पीपा आदि के नाम उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते हैं।[6]

---

1. 'Let no man', he says, 'ask a man's caste or sect. Who ever adores God is God's own'.
   —Dr. Radhakrishnan—'Indian Philosophy', Vol. II., p. 709.
2. H. H. Wilson—'Essays on the Religion of the Hindus', Vol. I. (1962), p 48.
3. Ibid, p. 54.
4. Albert Schweitzer—'Indian Thought and Its Development' (1951), p. 203.
5. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (पाचवी वार), पृ० 47।
6. वही, पृ० 48।

यह हुई निर्गुणिया सन्तों की धारा। रामानन्द की शिष्य परम्परा में सगुणभक्ति धारा के भी बड़े-बड़े भक्त हुए। गोस्वामी तुलसीदास इनमें सब श्रेष्ठ हैं। इन्होंने राम को अवतार रूप में ग्रहण किया। बुद्धदेव के बाद उत्तरभारत के धार्मिक राज्य पर इस प्रकार एकछत्र अधिकार किसी का नहीं हुआ।[1] दूसरी ओर वल्लभाचार्य की कृष्णोपासना का भी प्रचार बढ़ता गया। इस शाखा में भी बड़े बड़े भक्त कवि हुए। सूरदास, नन्ददास, मीराबाई आदि इसके उदाहरण हैं।

तुलसी की भक्ति भावना

भारतवर्ष में प्राचीनकाल से निर्धारित उपासना पद्धतियों में भक्ति मार्ग ही सर्वजन सुलभ कहा जा सकता है। ज्ञानमार्ग में बौद्धिक प्रक्रिया की प्रधानता होती है तो योगमार्ग में चित्तवृत्तियों के निरोध की। परन्तु भक्तिमार्ग सर्व साधारण को भी सरलता से भगवत्प्राप्ति का सन्देश देता है और मानवमात्र को समानरूप से देखता भी है। इसका परिणाम यह हुआ कि भक्तिमार्ग ने जनसमुदाय के हृदय को जितना प्रभावित किया उतना और किसी मार्ग ने नहीं। उसमें भक्त भगवान का एक प्रकार से प्रत्यक्ष रूप से निरन्तर साहचर्य प्राप्ति का अनुभव करता है और अपने जीवन की विकट और जटिल परिस्थितियों में भगवान का प्रत्यक्ष सहारा पाकर आश्वस्त होता है।

गोस्वामी तुलसीदास जीवन के व्यापक क्षेत्र में भक्तिभावना के इस सर्वस्पर्शी रूप को लेकर चले थे। उनके भगवान राम ने निराश्रित तथा निरीह जनता के कंटकाकीर्ण जीवन पथ में, उनकी छोटी बड़ी समस्त अनुभूतियों के साथ कैसा तादात्म्य पाया—यह भारतीय साधकता के इतिहास में अवश्य अभूतपूर्व घटना है। तुलसी की भक्ति-पद्धति में ईश्वर सर्वोपाधिविनिर्मुक्त अमेय अज्ञेय अप्राप्य कोई सत्ता विशेष मात्र नहीं है। उनके अनुसार ईश्वर हम लोगों के नित्य जीवन की अनुभूतियों में हमारा सहायक हमारी प्रार्थना को सुनने

---

1 डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी— हिन्दी साहित्य की भूमिका' (पांचवां बार) पृ० 50।

वाला, परम कारुणिक पिता है।[1]

तुलसीदास जी भक्ति को अन्न-जल की भाँति सर्व-जन-सुलभ समझते हैं। अन्न और जल सबके लिए सुलभ तो है ही, साथ ही वह इतना अनिवार्य भी है कि बिना अन्न-जल के कोई प्राणी जीवित नही रह सकता। इसी प्रकार भक्ति के बिना मानव-हृदय की स्वाभाविक वासना की पूर्ण परितृप्ति असम्भव है—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साचिली चाह।
अम्बु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माह॥

गोस्वामी जी के अनुसार कर्म की साधना अत्यन्त कृच्छ्र है और उससे परमपद प्राप्ति असम्भव-सी है।[2]

परन्तु भक्तिमार्ग अत्यन्त सरल और सुलभ है। उसके लिए आवश्यक गुण केवल यही है—

'सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम-प्रसूति।'

मन, वचन और कर्म की शुद्धता भगवत्प्रेम की जननी है। भगवत्प्रेम से बढकर भगवत्प्राप्ति का कोई मार्ग नही है। 'भगवान के प्रति निष्काम प्रेम की जननी है प्रेमाभक्ति' सकाम भगवत्प्रेम विशुद्ध प्रेम-भक्ति का लक्षण नही

---

1. 'In the eyes of Tulsidas God is not a remote passionless Beings, devoid of all attributes and impossible to define, but a God to whom men pray and who hears their prayer.' —Mac Fie—'The Ramayana of Tulsidas (1930), Intro., p. XIV.

2. 'करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
कालरूप तिन्ह कह मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता।
अस विचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि सनृति दुख जाने।
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नरमुनि नायक।'
—(मानस, उत्तर० 41)

है। इसे अनपायिनी भक्ति की सत्ता तभी प्राप्त होती है, जब वह सर्वतोभावेन स्वार्थरहित ही नहीं अपितु परमार्थसिद्धि की कामना से शून्य भी हो।[1] दोहावली में गोस्वामी जी कहते हैं—

स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेहु।
तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत एहु॥[2]

गोस्वामी जी ज्ञान को भी उपासना पद्धति में अत्यन्त कठिन समझते हैं। उनके अनुसार 'जो इस कठिन साधना में सफल होते हैं, उन्हें मुक्ति अवश्य मिलती है पर यह सफलता प्राप्त करना बहुत कष्टसाध्य है।'[3]

ग्यान के पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥[4]

फिर भी भवसागर के तरण के लिए भक्ति के समान ज्ञान भी उपयोगी है—

भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा।
उभय हरहि भव सम्भव खेदा॥[5]

रामभक्ति की यह विशेषता है कि उसके लिए मुक्ति कोई अलभ्य वस्तु है भी नहीं। वह (मुक्ति) उसकी ओर स्वयं आ जाती है— लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं, श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत ?—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआईं॥[6]

---

1 डा० राजपति दीक्षित—तुलसीदास और उनका युग (प्रथम सं०) पृ० 141।

2 दोहावली' दोहा नं० 60।

3 डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 452।

4 मानस उत्तर० 118 119।

5 वही, उत्तर० 115।

6 वही उत्तर० 119।

ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान और योग आदि साधन गोस्वामी जी के अनुसार पुरुष हैं—क्योंकि वे स्वावलम्बी हैं और इसलिये पुरुषार्थ प्रधान होते हैं भक्ति तो उनके अनुसार नारी है। क्योंकि वह सर्वथा परावलम्बिनी और इसलिए दैन्य और कार्पण्य-प्रधान होती है। और माया भी स्त्री है—क्योंकि वह भी परावलम्बिनी है और स्वतः जड होने के कारण अपने प्रसार के लिये उसे भी भगवान का अवलम्ब चाहिये। और पुरुष नारी पर मुग्ध हो सकता है, और नारी उसे मोहित कर सकती है, इसलिये ज्ञान, वैराग्य आदि पुरुषार्थ प्रधान साधन माया-विमुग्ध हो सकते हैं। पर भक्ति पर माया कभी अपना प्रभाव नही डाल सकती।·········इसलिये दूसरे साधनो मे माया-विमुग्ध होने का जो भय रहता है, भक्ति का आश्रय ग्रहण करने पर वह भय नही होता है।[1]

भक्ति के शास्त्रीय ग्रन्थो में विविध प्रकार की भक्ति का उल्लेख पाया जाता है। तुलसीदास की दृष्टि में भक्ति का सभी रूप समादेय है। उनकी उक्तियों से विविध श्रेणी की भक्ति के उदाहरण अनायास ही ढूँढ निकाले जा सकते हैं। उनमे 'प्रेमाभक्ति के फल के आधार पर उसकी सर्वश्रेष्ठता ठहरायी गयी है·········इसी भक्ति की प्राप्ति के अनन्तर भक्त अनायास ही दुर्लभ कैवल्य पद भी पा लेता है, पर वह मुक्ति का भी निरादर करके भक्ति मे लीन रहता है।'[2]

यह निस्सन्देह सिद्ध हो गया है कि तुलसीदास ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की महत्ता अवश्य स्वीकृत की है। उनकी भक्ति-पद्धति मे सेव्य-सेवक भाव की बडी महिमा मानी गयी है। 'दास्यभाव की उपासना में अन्यभाव नही रहते। तुलसीदास ने अपने सभी ग्रन्थो मे दास्यभाव (सेव्य-सेवक भाव) के अतिरिक्त और किसी भाव का आग्रह नही किया है, चर्चा भी नही की।'[3] वे स्पष्ट घोषणा करते है—

---

1. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास', तृ० स०, पृ० 409-410।
2. डा० राजपति दीक्षित—'तुलसीदास और उनका युग', प्र० सं०, पृ० 165।
3. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—'हिन्दी साहित्य का अतीत', प्र० सं०, पृ० 256।

सेवक सेव्य भाव बिनु । भव न तरिय उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज । अस सिद्धान्त विचारि ॥[1]

वास्तव मे दास्यभाव की उपासना की जो पद्धति तुलसीदास ने चलाई उसका बड़ा सामाजिक महत्व भी है। कान्त भाव की उपासना का विकृत रूप जब अत्यन्त निकृष्ट और अश्लील कोटि तक पहुँच गया था वहाँ दास्यभाव की उपासना के प्रबल प्रचार से ही रोकथाम की चेष्टा की जा सकती थी। पत्नी विषयक रति से पुत्र विषयक रति मे सामाजिकता अधिक है और दास्यभाव म उससे भी अधिक। अतः सेव्य सेवक भाव की उपासना सामाजिकता की विकसित मनोवृत्ति की ही परिचायिका है।

गोस्वामी जी किसी भी उपासना पद्धति के विरोधी नही थे। उनकी बुद्धि सारग्राहिणी और सुसंस्कृत थी। वे किसी विचारधारा या सिद्धान्त के साधु अंश को स्वीकार करने में रंचमात्र भी संकोच करने वाले न थे। भक्ति की ओर उनके अत्यधिक लगाव के कारण उसकी सवजनसुलभता और सरलता मात्र है। भक्ति म उपासक भगवान के भरोसे वसे ही निभय और निश्चिन्त रहता है जसे माता के भरोसे बच्चा। देखिये श्रीमुख से राम क्या कह रहे हैं—

सुनुमुनि तेहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।
करौं सदा तिन्हक रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी॥

— — —

मेरे प्रौढ़ तनय समग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।
जनहिं मोर बल निजबल नाहीं। दुहु कह काम क्रोध रिपु आही॥
यह विचारि पंडित मोहि भजहीं। पायहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥[2]

ज्ञान प्राप्ति के बाद भी भक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। क्योंकि भक्ति के अभाव म ज्ञान साधना अपूर्ण है—

---

1 तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड, मानस पृ० 497।
2 आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र— हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० सं०), पृ० 254।
3 मानस अरण्यकाड, 43।

धर्म ते विरति जोगते ग्याना । ग्यान मोच्छ प्रद वद बखाना ।
जाते वेगि वेगिद्रवों मैं भाई । सोमम भगति भगत सुखदाई ।।
सोसुतत्र अवलंब न आना । तेहि अवीन ग्यान विग्याना ।
भगति तात अनुपम सुख मूला । मिले जो संत होहिं अनुकूला ।।[1]

इस प्रकार सर्व-सिद्धि-प्रदायिनी भक्ति का आदर जो नही करता वह कैवल्य पाकर भी पुन. अध पतित हो जाता है—

जे ग्यान मान विमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी ।
ते पाइ सर दुर्ल्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ।।[2]

तुलसीदास का इसलिये विश्वास है कि रामभक्ति के विना वास्तविक निर्वाण की प्राप्ति असम्भव है—

रामचन्द्र के भजन विनु जो पद चाह निर्वान ।
ग्यानवत अपि सो नर पसु विनु पूँछ ।।[3]

भक्ति के अनेक साधन तुलसीदास जी ने बतलाये है—

(1) प्रथमहि विप्रचरण अति प्रीति ।
(2) निज-निज धर्म निरत श्रुति रीति ।
(3) यहिकर फल पुनि विषम विरागा ।

तव मन चरन उपज अनुरागा ।
श्रवणादिक नव भगति दृढ़ाही ।
मम लीलारति अतिमन माही ।।

(4) सत चरण पकज अतिप्रेमा ।
मन क्रमवचन भजन दृढ नेमा ।।

(5) गुरुपितु मातु बंधु पतिदेवा ।
सब मोहि कहं जानै दृढ सेवा ।।

---

1. 'मानस', अरण्यकाड 16 ।
2. वही, उत्तरकाड, 13 ।
3. वही, 78 ।

(6) मम गुन गावत पुलक सरीरा ।
गदगद गिरा नयन वह नीरा ॥

(7) काम आदि मद दंभ न जाके,
तात निरंतर वस मैं ताके ।

बचन कर्म मन मेरि गति । भजनु करहिं निकाम ।
तिन्ह के हृदय कमलमहुँ करौं सदा बिश्राम ।[1]

तुलसीदास जी की रामभक्ति अन्य देवताओं की भक्ति के लिये अविरोधी । शिव भक्ति को उन्होंने रामभक्ति के लिए अनिवार्य ही स्थापित किया । नकी इस उदार भावना ने मध्यकाल के शैव वैष्णव का कलह उत्तरभारत से टा दिया—

सिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहु मोहिन पावा ।
संकर विमुख भगति चह मोरी सो नारकी मूढ़मति थोरी ।

संकर प्रिय मम द्रोही । सिवद्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नर्कहुवास ।।[2]

'राम ते अधिक राम करनामा' कहकर गोस्वामी जी ने भगवान् राम से ी बढ़कर रामनाम को महत्वपूर्ण स्थापित किया है। वस्तुत कलिकाल मे ामजप ही अत्यन्त सरल मार्ग हो गया है । अनेक कष्टताओं से भरे मानव ीवन म रामनाम सद्य फलदाता रक्षक हो गया है ।

बाह्य आडम्बर को तुलसीदास जी भक्ति के लिए बाधक समझते हैं । संतो ा लक्षण निर्धारित करते समय उन्होंने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है । उनकी ृष्टि म लोक सम्मान, आडम्बर आदि सब साधना के मार्ग म विघ्न उप स्थित करते है । सन्तो के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है—

सुनुमुनि सन्तन्ह के गुन कहऊ । जिन्हते मैं उन्हके बस रहऊ ।
षट विकार जित अनघ अकामा । अचल अकिंचन सुचित सुखधामा ।

तुलसी ग्रन्थावली मानस पृ० 299 (डा० रामकुमार वर्मा के हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास से उदधृत) ।

तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड मानस, पृ० 371 ।

अमित बोध अनीह मित भोगी । सत्यसारकवि कोविद जोगी ।
सावधान मानस भय हीना । धीर भगति पथ परम प्रवीना ।

— — —

निज गुन श्रवण सुनत सकुचाही । पर गुन सुत अधिक हरपाही ।
समसीतल नहि त्यागहि नीती । सरल सुभाउ सवहि सन प्रीती ।
जपतप व्रत जप संजम नेमा । गुरु गोविन्द विप्रवद प्रेमा ।
श्रद्धा छमा मइत्री दाया । मुदिता मम पद प्रीति अमाया ।
विरति विवेक विनय विग्याना । बोध जथारथ वेद पुराना ।
गावहि सुनहि सदा मम लीला । हेतु रहित परहित रतसीला ।
सुनि मुनि साधुन के गुन जेते । कहिन सकहि सारद स्रुति तेते ॥[1]

संक्षेप में तुलसीदास का धर्म यह है—

'परहित सरिस धर्म नहि भाई । पर पीडा सम नहि अधमाई ।'

इस प्रकार गोस्वामी जी की धर्म और उपासना सम्बन्धी मान्यता भक्ति ही थी, यह असंदिग्ध रूप से व्यक्त हो जाता है और उनकी भक्ति भी समाज की मर्यादा की रक्षा की विधात्री थी, उच्छृखलता की पोपक नही थी, जैसे हम कुछ माधुर्य उपासना वाले भक्तो मे अकसर पाते हैं। इस दास्यभाव की भक्ति के कारण एक ओर गोस्वामी जी ने समाज को एक भीपण आपत्ति से बचाया और दूसरी ओर उपासना के क्षेत्र को हमेशा के लिए पवित्र बनाया। इस प्रकार उनकी धर्मभावना व्यक्ति और समाज के तात्पर्य को समानता से महत्व देने वाली मानी जा सकती है । 'किसी परिमित वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के धर्म से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्चकोटि का है ।[2] 'इसी से विश्वधर्म की सीमा तक हम पहुँच सकते हैं। तुलसीदास मे अवश्य ऐसी विश्वयापिनी दृष्टि वर्तमान थी, यही उनकी महत्ता के कारणो मे से एक है। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार कवि के वास्तविक व्यक्तित्व की परीक्षा भी उसके विश्वमनोभाव (यूनिवर्सलिटी) के आधार पर ही होनी चाहिए।

1. 'मानस', अरण्यकाण्ड, (मूल गुटका, गीताप्रेस), पृ० 441 ।
2. पं० रामचन्द्र शुक्ल—'गोस्वामी तुलसीदास', सप्तक सं०, पृ० 177 ।

गोस्वामी तुलसीदास भारतीय धर्म परम्परा के पोषक थे। उन्होंने अपनी रचनाओं को 'नानापुराणनिगमागम् सम्मतम' कहकर भारतीय आर्यधर्म की ओर अपनी अडिग आस्था प्रकट की है। उन्होंने निरुद्देश्य रचनायें नहीं की थी, उनके मन में समाज-सम्बन्धी और उपासना सम्बन्धी अनेकानेक उत्कृष्ट लक्ष्य थे। दर्शनशास्त्र का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। तत्कालीन साहित्य में कोई भी ऐसा कवि नहीं है जिसने दर्शनशास्त्र का परिचय इतनी दक्षता के साथ दिया हो।[1] शंकर अद्वैतवाद रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद आदि में उनकी अच्छी गति थी। उनके ग्रन्थों में इसके पुष्ट प्रमाण दृष्टिगत होते हैं। परन्तु उनकी यह विशेषता थी कि वे दार्शनिक विवेचन के झमेले में पड़कर अपने मूलभूत सिद्धान्तों को भुला देने वाले थे। उनके समय में भारतीय अन्तरिक्ष में सगुण निर्गुण और शैव वैष्णव मतवाद का संघर्ष गूंज रहा था उसे उन्होंने असाधारण प्रगल्भता के साथ शान्त किया। उन्होंने 'सगुन अगुन दोऊ ब्रह्म स्वरूपा' और 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कुछ भेदा' आदि कहकर हमेशा के लिए उसका परिहार किया। कुछ लोग उनको शंकराद्वैत का अनुयायी ठहराते हैं और कुछ लोग विशिष्टाद्वैत के। अपरों की दृष्टि में तुलसीदास द्वैतवाद के अधिक निकट हैं। वास्तव में वे मूलतः भक्त थ, उनका कोई विशेष दर्शन यदि है तो वह रामभक्ति का दर्शन है। कभी कभी उनकी कुछ उक्तियों से लोगों को भ्रम हो जाता है कि वे शंकर मतानुयायी थे। विनय पत्रिका में माया के निरूपण में वे कहते हैं—

> केसव कहि न जाई का कहिए
>
> देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए।
> सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
> धोये, मिटै न, मरै भीतिदुख पाइय यहि तनु हेरे।
> रविकर नीर बसै अतिदारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
> बदन हीन सो ग्रसै चराचर पनि करन जे जाहीं।

---

1 डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृ० बार, पृ० 443।

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रवल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥[1]

इस पद से ज्ञात होता है कि वे शकर के अद्वैतवाद के प्रतिपादन होते हुए भी उसे भ्रम मानते है ।'[2] तुलसीदास के अनुसार अहंकार ही माया का मूल है। माया विद्या और अविद्या के भेद से द्विविध है । विश्व की सृष्टि-स्थिति-सहारकारिणी विद्या माया ही होती है—

उद्भाव स्थिति सहार कारिणी क्लेशहारिणीम् ।
सर्वं श्रेयस्करी सीता नतो हं राम वल्लभाम् ॥

यही विद्यामाया भक्तो मे अनन्य भक्ति भी उत्पन्न करती है ।[3]

तुलसीदास ने समय-समय पर अपनी दर्शन सम्बन्धी धारणाओ को अच्छी तरह व्यक्त किया है । विशेपकर मानस के निम्नलिखित प्रसंगो मे उन्होने अपने दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति की है—लक्ष्मण निपाद-सम्वाद, राम-नारद सवाद, वर्षा-शरद् वर्णन, राम-लक्ष्मण सवाद गरुड़ और कागभुशंडी सम्वाद । इन प्रसगो के अवलोकन से विल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास अपने राम को 'विधुहरि सम्भु नचावन हारे' के रूप मे मानते थे ।[4] वे उनको ब्रह्म ही समझते है। यही कारण है कि ब्रह्म के अनुरूप समस्त विशेपणो का प्रयोग राम के लिए किया गया है । अद्वैतवाद मे ब्रह्म के लिए प्रयुक्त शब्द राम के लिए प्रयुक्त होते भी वे अवतारवाद पर विश्वास रखने वाले हैं जो विशिष्टाद्वैत के अधिक अनुकूल है ।[5] निर्विकार ब्रह्म ही नेत्रो का विषय हो जाता है, अवतार लेता है । फिर भी उसका पार नही मिलता । यही गोस्वामी जी का सिद्धान्त जान पड़ता है ।[6] यथा—

एक अनीह अरूप अनामा । आज सच्चिदानन्द परधामा ।
व्यापक विश्वरूप भगवाना । तेहिधरिदेह चरित कृत नाता ।
सो केवल भगतनहित लागी । परम कृपालु प्रणत अनुरागी ॥[7]

---

1 'तुलसी ग्रन्थावली', दूसरा खंड, विनयपत्रिका, पृ० 519 ।
2. डॉ० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', तृ० वार, पृ० 443 ।
3. डा० राजपति दीक्षित—'तुलसीदास और उनका युग', प्र० सं०, पृ० 277 ।
4 डा० रामकुमार वर्मा—'हि० सा० आ० इतिहास', तृतीय वार, पृ० 444 ।
5. वही ।
6. प्रो० रामवहोरी शुक्ल—'तुलसीदास', तृ० स०, पृ० 121 ।
7. 'तुलसी ग्रंथावली', पहला खड, मानस, पृ० 10 ।

अद्वैत मत के उद्बोधक अनेक प्रसग मानस से उद्धत किये जाते हैं—

(अ) गिरा अथ जल वीचि सम । कहियत भिन्न न भिन्न ।[1]

(आ) नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।[2]

(इ) निज निगु ण निर्विकल्प निरिहम
निराकारमाकाश वास भजे हम ।[3]

इसी अद्व तवाद के ब्रह्म को विशिष्टाद्व त के अनुसार भी चित्रित किया गया है—

सगुनहिं अगुनहि नहिं कछु भेदा
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा ।
अगुन अरूप, अलख अज जोई
भगत प्रेमबस अगुन सो होई ।

जो गुन रहित सगुन होई कसे । जल हिम उपल विलग नहिं जसे ।।
जासु नाम भ्रम तिमिर पतगा । तेहि किमि कहिअ विमोह प्रसगा ।।[4]

इससे तो यही व्यक्त होता है कि तुलसीदास जी की दृष्टि मे सगुण भगवान राम तथा निगु ण ब्रह्म मे कोई भेद नहीं है।

गोस्वामी जी की रचनाओ म द्व त सिद्धान्त की उदबोधक उक्तियो का भी अभाव नहीं है । डा० राजपति दीक्षित के मतानुसार गोस्वामी जी की दार्शनिक दृष्टि द्वैतवाद के अधिक अनुकूल है । क्योंकि गोस्वामी जी के अनुसार उपासक अपनी सत्ता को उपास्य की सत्ता मे विलीन कर स्वय उपास्य रूप नही बन जाता वह अपनी सत्ता को अलग बनाये रखता है । उपास्य और उपासक दोनो की सत्ता पृथक पूर्णतया प्रतिष्ठित है । अत उनका अभिमत सिद्धात द्वैत ही है ।'[5]

---

1 तुलसी ग्रन्थावली' पहला खड मानस प० 13 ।

2 वही प० 14 ।

3 तुलसी ग्रथावली' पहला खड, प० 488 ।

4 वही प० 54 58 ।

5 डा० राजपति दीक्षित— तुलसीदास और उनका युग , प्र० स०, 302 ।

निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि तुलसीदास जी अद्वैतवाद और द्वैतवाद दोनों को श्रद्धा की दृष्टि से ही देखते हैं। 'हरि अनंत हरिकथा अनंता' कहनेवाले महात्मा को भगवत्प्राप्ति का मार्ग बताने वाले सभी सिद्धान्त सम्मानीय हैं। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि मे वे रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अधिक समीप प्रतीत होते हैं। विशिष्टाद्वैत में भी ब्रह्म के विशेषण के रूप मे जीवन की सत्ता मान ली गयी है।[1] ब्रह्म स्वयं सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है पर जीवन एकदेशीय और परिमित शक्तिवाला है। तुलसीदास मे जीव संबधी जो धारणाएँ हैं (ईश्वर अंश जीव अविनाशी आदि) वे भी विशिष्टाद्वैत के अधिक अनुकूल दीख पडती हैं। रामानुजाचार्य द्वारा निरूपित सिद्धान्त भक्तो के लिये अधिक उपयोगी भी था। अतः 'साम्प्रदायिक दृष्टि से वे रामानुजाचार्य के ही अनुयायी थे।'[2] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[3] एवं डा० रामकुमार[4] वर्मा दोनो तुलसीदास को निश्चित रूप से विशिष्टाद्वैत मतानुयायी मानने के पक्ष मे है।

तुंचन की भक्ति भावना और दार्शनिक मत

यहाँ तक तो तुलसी की भक्तिभावना और उनके दार्शनिक मत की किंचित् चर्चा हुई अब तुंचन की भक्तिभावना और दार्शनिक मत की ओर आइये। जैसा कि हमने तुलसीदास के विषय में देखा है, तुंचन की रचनाओं में भी दार्शनिक दृष्टि से शंकर मत के अनुरूप अनेक प्रसंग और उक्तियाँ आ गयी हैं। यह

---

1. 'Ramanuja argues that God is indeed real and independent, but the souls of the world are real also, though their reality is utterly dependent on that of God. While Brahman is enternally free from all imperfection, matter in unconscious, and the individual souls are subject to ignorance and suffering'.
   —Dr. Radhakrishnan—'Indian Philosophy' Vol. II. (1951), p. 660.
2. पं० रामचन्द्र शुक्ल—'तुलसी ग्रन्थावली', तीसरा खंड, पृ० 145।
3. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—'हिन्दी साहित्य का अतीत', प्र० स०, पृ० 255।
4. डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', तीसरी वार, पृ० 450।

स्मरण रखना चाहिए कि तुंचन ने इस विषय में अध्यात्मरामायण का ही दृष्टिकोण स्वीकार किया है जिसकी दार्शनिक दृष्टि अद्वैतवाद के अनुरूप है।[1] मलयालम रामायण के आरम्भ में अध्यात्मरामायण के ही समान तुंचन ने राम और सीता के वास्तविक स्वरूप की चर्चा की है। सीता जी हनुमान से कहती हैं—

'सच्चिदानंद मेक मद्वय पर-ब्रह्मम्
निश्चल सर्वोपाधि निर्मुक्त सत्तामात्रम्'

तथा निश्चित रूप से अमेय वस्तु ही श्री रामचन्द्र हैं—

राम जन्मानादि विहीन पर ब्रह्म है
निर्मल निरंजन निर्गुण निर्विकार
शांत, सदा आनंद स्वरूप परमात्मा ही राम है।[2]

——— ———

सीता, जो अपने सम्बन्ध में कहती हैं—

मैं मूल प्रकृति हूं
अपने पति परमात्मा के सान्निध्यमात्र से
मैं इस जगत् की सृष्टि करती हूं।
और उनके सान्निध्य मात्र से
जिन वस्तुओं का मैं निर्माण करती हूं
उन सबको मूरजन परमात्मा आरोपित करते हैं।[3]

ऐसे अनेक प्रसंग और भी आ जाते हैं जिनसे तुंचन का अद्वैतवाद से सम्बन्ध प्रतीत होता है। राम ने स्वयं हनुमान से कहा—

परमात्मा रूपी बिंब का प्रतिबिंब है जीवात्मा

——— ——— ———

परमात्मा का कोई विकार कदापि नहीं होता।
तत्वमसि आदि महावाक्यों में मेरा तत्व

---

1. अध्यात्मरामायण [illegible] बालकांड सर्ग 1 श्लो॰ 17-24।
2. तुंचन रामायणम् बालकांड पृ॰ 7।
3. वही, बालकांड, पृ॰ 7।

जाना जा सकता है ।[1]

स्पष्ट रूप से यहाँ अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा के तत्व का ज्ञान ही अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति का कारण है—'तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति'। ऐसे ही 'लक्ष्मणोपदेश' के प्रसग मे भी भगवान् के मुँह से तुंचन ने अद्वैत सिद्धान्त का समर्थन करवाया है।

'ज्ञेय परमात्मा एक ही है।
परमात्मा के ज्ञान मात्र से माया का भय मिट जाता है
अनात्म वस्तुओ मे आत्मत्व का बोध ही माया है,
उसी से सासारिक बंधनो का आविर्भाव होता है।'

—— —— ——

यह विश्व परमात्मा मे माया द्वारा कल्पित है।
माया के कारण ही विश्व की सत्ता प्रतिभासित होती है।
रज्जुखंड मे सर्प की भ्राति के समान इस विश्व
का अस्तित्व भी भ्राति मात्र है ।[2]

जीवात्मा-परमात्मा मे कोई भेद नही है, दोनो एक ही है। जो इनको एक नही मानता, वह मूढ और अज्ञानी है ।[3] कहने की आवश्यकता नही कि इसमें शुद्ध शंकराद्वैत का ही प्रतिपादन किया गया है। और भी अनेक प्रसंग उनके रामायण से उद्धृत किये जा सकते है यथा—

(अ) कार्य, कारण, कर्ता, साधन इन सबका भेद केवल माया के प्रभाव पर ही आधारित है ।[4]

(आ) जीव रज्जु मे सर्प की-सी भ्राति होने के कारण ही संसार मे भय का अनुभव करता है। जब वह समझ लेगा कि मैं स्वयं परमात्मा ही हू तब समस्त भवरोग का अन्त हो जाएगा ।[5]

---

1. 'तुंचन रामायणम्', बालकाड, पृ० 10।
2. वही, अरण्यकाड, पृ० 165-166।
3 वही।
4. वही, बालकाड, पृ० 35।
5. वही, अयोध्याकाड, पृ० 58।

(इ) जीवन निश्चल निरामय परमात्मा ही है।[1]

(ई) ज्ञान के द्वारा ही मुझे (परमात्मा को) प्राप्त किया जा सकता है।[2]

यद्यपि शंकर-वेदान्त सम्बन्धी अनेक प्रसंग इस प्रकार के तुंचन की रचनाओं में विकीर्ण पाये जाते हैं फिर भी वे मूलतः अद्वैतवादी ही थे, यह नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास के समान उन्हें भी अद्वैत मत से कोई विप्रतिपत्ति नहीं थी पर साधना के क्षेत्र में वे पूर्णतः भक्तियोग के अनुयायी थे। रामायण के प्रायः हर एक पृष्ठ में भक्ति सम्बन्धी उद्गार पाये जाते हैं। वस्तुतः भक्ति को छोड़कर उन्हें और किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर पूरी आस्था नहीं थी।[3] एक सच्चे आचार्य की भाँति उन्होंने हिन्दू धर्म की समस्त दार्शनिक धाराओं का सम्यक् अध्ययन किया था। प्रसंग के अनुसार प्रत्येक सिद्धान्त का वे उपयोग करते दिखाई देते हैं। उनके रामायण में अद्वैतवाद की जो प्रधानता है वह अवश्य संस्कृत अध्यात्मरामायण का प्रभाव है। पर उनके महाभारत में यह बात नहीं है। उसमें कर्मवाद को प्रमुखता दी गयी है। इन सबके मध्य से भक्ति की पावनधारा प्रवाहित होती है जिसका सम्बन्ध वैष्णव मत से विशेष रूप से है।[4] भक्तमाल में उत्तम भक्त की जितनी विशेषतायें दी गई हैं[5] वे सब

---

1 'तुंचन रामायणम्', अरण्यकांड, पृ 166।

2 वही, पृ० 167।

3 'Except for his performence to the doctrine of Bhakti, Ezhuttachan does not seem inclined to preach exclusively the concepts of any school of Hindu philosophic thought' —Dr C A Menon— Ezhutbachan and His Age (1940) p 162

4 Behind all these runs the undercurrent of Bhakti emanitating from his Vaishavic faith emphasising devotion to a supreme Deity
—Dr C A Menon—'Ezhuttachan and His Age (1950) p 162

5 Trust is the scented oil and hearing of the story of the Lord is the cosmetics Dwelling on him in the heart is the clear water in which she (Bhakti) batheth and which removeth from every limb the foulness of spiritual pride
—*Gleanings from Bhaktamala by Sir G.A Grierson* J R A S July 1909 p 610

तुंचन मे ही नही, तुलसीदास आदि अन्य सभी मध्यकालीन भक्त कवियों मे समान रूप से पायी जाती हैं।

तुंचन के रामायण मे भक्ति-सिद्धान्त का निरूपण सर्वत्र ,पाया जाता है, स्वयं भगवान के श्रीमुख से शवरी के प्रति वाणी सुनिये—

भगवद्भक्ति के लिये पुरुष, नारी, जाति
नाम, आश्रम आदि से कोई मतलव नही है।
भक्ति के बिना मुक्ति प्राप्ति का
दूसरा कोई साधन नही।

— —

'तीर्थस्नान, तप, दान, वेदाध्ययन
मदिर-दर्शन, उपवास याग आदि
किसी कर्म से कोई मुझे प्राप्त नही कर सकता
केवल भक्ति के द्वारा ही मेरा साक्षात्कार सम्भव है।'

— — —

'प्रेमलक्षण भक्ति के उदय होने पर
पशुपक्षी आदि ज्ञानहीन जीवो और
अवोध नारियो को भी भगवत् साक्षात्कार सम्भव है।'
'भगवान् के प्रसाद से निम्न जाति के लोग भी
अनायास मुक्त हो जाते हैं
अन्य मंत्र तंत्र आदि कर्मों को छोड़कर
रामनाम का जप करना ही अत्यन्त आवश्यक है।
समस्त विश्व को जव 'सियाराममय' जाना जाए
तव भगवान् के दिव्य रूप से हम तादात्म्य पा जाते हैं।'[1]

अपने 'महाभारत' मे भी तुंचन ने भक्ति की सर्व-जन-सुलभता एवं सर्व-श्रेष्ठता को बार-बार प्रख्यापित किया है।

'यदि भक्ति है तो धन, धान्य, प्रभाव
आदि से कोई प्रयोजन नहीं है।
भक्ति ही भगवत्कृपा का एकमात्र साधन है॥

1. 'तुंचन रामायणम्', अरण्य०, पृ०, 205-206-207।

शक्तिहीन धनहीन और जातिहीन होने पर भी
भक्त सब लोगों के लिये सर्वथा पूज्य हो जाता है।'[1]

धर्म या उपासना तुंचन के लिये कदापि केवल दार्शनिक तर्क-वितर्क का साधन नहीं रहा। वह उनके लिये परमतत्व की अनुभूति और साक्षात्कार का साधन है। धर्म उनके लिये केवल तत्वों और सिद्धान्तों का समाहार मात्र नहीं विधि विधानों और आचारों का संघात मात्र नहीं प्रत्युत जीवन की गहनतम अनुभूति, परमसत्य की ओर अंतर्दृष्टि और परमतत्व की अनवरत अनुभूति में आत्म विस्मृति यही उनकी भक्तिभावना का रहस्य है। उनकी धर्मभावना डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की शैली में केवल 'गलदश्रु भावुकता' का परिणाम नहीं है केवल वैचारिक आवेग (इमोशनल फीलिंग) नहीं है, परन्तु उनके महान् व्यक्तित्व की महान आवश्यकता और उसकी समग्र सत्ता है जो उस त्रैकालिक सत्य पर केंद्रित है।[2]

1 If Iswara who is truth incarnate is pleased, even the lowest of men will realize their ambition

There is no use having money or influence
For divine pleasure one needs have only Bhakti
A Bhakta though powerless, poor and low born
Will be deemed most virtuous among men
And he will be blessed with enjoyment and salvation,
If you have your mind pure
Worship the beautiful-eyed God (Krishna)

—Translated by Dr C A Menon from Thunchan s Malayalam Mahabharatha Ezhutachan and His Age (1940) pp 162 163

2 Religion is not the acceptance of academic abstractions or the celebration of ceremonies but a kind of life experience It is insight into the nature of reality (darsana) or experience of reality (anubbuthi) This experience is not an emotional thrill or a subjective fancy, but is the response of the whole personality the integrated self to the central reality

—Dr Radhakrishnan— The Hindu View of Life (1948), p 15

निष्कर्ष के रूप मे यही कहा जा सकता है कि तुंचन का दार्शनिक दृष्टि-कोण अद्वैत-विशिष्टाद्वैत आदि का आदर करते हुए भी भक्ति को सर्वाधिक महत्व देने मे ही चरितार्थ होता है। अद्वैत में जीव और ब्रह्म का पार्थक्य स्वीकृत न होने के कारण उसमे भक्तिभावना की गुंजाइश नही है। जीव और ब्रह्म के एकत्व में सेव्य-सेवक भाव की समस्या ही नही उठती। परन्तु, विशिष्टाद्वैत मे भक्ति और आराधना की जो आवश्यकता और सुगमता मान ली गयी है वह हमारे दोनो कवियो के लिये अवश्य समादेय प्रतीत हुई। तुंचन ने अद्वैत सिद्धान्त के साथ विशिष्टाद्वैत की भक्तिभावना का समन्वय किया है। यही दार्शनिक और भक्ति-सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण कहा गया है।[1]

साधना के क्षेत्र में तुंचन और तुलसीदास का दृष्टिकोण सर्वांश में एक ही था। दोनो पर अध्यात्मरामायण का अतिमात्र प्रभाव था, इसीलिये दोनों के ग्रन्थो मे अद्वैतवाद सम्बन्धी प्रस्ताव पाये जाते हैं। परन्तु, दोनो ने अद्वैत-वाद की त्रुटि को समझ लिया और उसके लिये विशिष्टाद्वैत के आवश्यक सिद्धान्तों को स्वीकार किया। दोनों की मुख्य आधारशिला भक्ति ही थी। भक्ति के अभाव मे दार्शनिक विवेचनो का कोई महत्व नही था, यही दोनो की धारणा थी। भक्ति के महान साम्राज्य मे समस्त प्रतीयमान विभिन्नताओं की परिसमाप्ति दोनो ने मान ली। उसी मे भिन्न तत्वो का सुगमता से समन्वय हो गया। वस्तुतः यह समन्वयवादी दृष्टिकोण भक्ति तत्व की बड़ी भारी विशेषता है। तुलसी और तुंचन की प्रवृत्तियो मे जो समन्वयवाद पाया जाता है उसका यही कारण है। हमने देखा, तुलसी रामायण के आविर्भाव के साथ-साथ उत्तर मे शैव और वैष्णवों का कलह ही मिट गया। केरल मे यह कलह नही दिखाई पडा, पर देवता सम्बन्धी ऐक्यभावना के विधान मे तुंचन का काम अवश्य सहायक सिद्ध हुआ।

यही दोनो महाकवियों की विशेपता है। उनके पवित्र कार्यों से भारतीय जनता का हृदय भक्ति की अमृतधारा से शीतल हो गया, आत्मा आनंदोत्फुल्ल हो उठी। जडता चेतनता में परिवर्तित हो गयी, आलस्य और अवसाद कर्म के

---

1. Dr. C.A. Menon—'Ezhuthachan and His Age'. p. 164.

उत्साह और स्फुरण म परिणत हो गये। भारतवर्ष की जनता नयी आशा और नये उत्साह के अतिरेक से नवयुग के सोपान मे पदार्पण करने लगी। यही प्रात स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास और परम भागवतोत्तम तु चत रामानुजन की महत्ता है।

साहित्यिक देन

उत्तम कला सार्वलौकिक है

एक प्रसिद्ध कलाकार द्वारा पूछे जाने पर महात्मा गाँधी ने अपना कला सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि 'मेरी दृष्टि मे सर्व-श्रेष्ठ कला वही है जो चंद्रिका की रमणीयता और उषा की सुषमा के समान सर्वसुलभ हो।' उन्होने अपने इस विचार का और विश्लेषण करते हुए कहा कि उषा की सुषमा एवं स्निग्ध-शीतल चंद्रिका की कमनीयता की अनुभूति के लिए सौन्दर्यशास्त्र के टेकनीक की कोई जानकारी आवश्यक नही है। वैसे ही सर्वश्रेष्ठ कला वही है जो टेकनीक की सहायता के बिना भी मानव के हृदय-तल मे तरगे पैदा कर सके। गाँधी जी के कलासबंधी प्रामाणिक ज्ञान के सबंध मे विशेषज्ञों को आपत्ति हो सकती है। स्वयं गांधी जी अपने को उसके योग्य नही समझते थे। पर कला मानव-हृदय के चिरंतन भावो से ही सबद्ध है और मानव-हृदय की स्वाभाविकता का ज्ञान इस युग मे उनके समान बहुत कम लोगों को था, यह विचार-क्षेत्र मे उनके विपक्षी भी मानते हैं। कहा गया है, टाल-स्टाय की महान कृति 'युद्ध और शान्ति' (वार एण्ड पीस) का प्रकाशन मास्को के एक पत्र मे जब सर्वप्रथम क्रमशः हो रहा था तब बहुत सी ग्रामीण नारियाँ पत्र निकलने के पहले ही इस अदम्य जिज्ञासा से प्रेरित होकर अपने स्वजनो को पत्र के कार्यालय मे भेजी थी कि अमुक पात्र का क्या हुआ और अमुक का क्या। इस कथन से एक बात स्पष्ट प्रकट होती है कि जो बात एक मानव के हृदय से निकलती है वह दूसरे मानव के हृदय मे अनायास ही घुस जाती है, जो सच्ची अनुभूति की उपज है वही दूसरे के हृदय को छू सकती है।[1]

---

1. 'Whatever it is, it (sincerity) is the reality we most insistently require in poetry.'
—I.A. Richards—'Practical Criticism' (9th Impression '54), p. 282.

तुलसी और सु घन की सार्वलौकिकता के कारण

तुलसीदास, सु घन आदि महाकवियों की रचनाओं की भी यही विशेषता है। तुलसी और सु घन के ग्रन्थों का प्रचार केवल शिक्षित समझे जाने वाले लोगों के बीच ही नहीं है, बल्कि शिक्षित अशिक्षित, पंडित मूर्ख अमीर-गरीब सभी के बीच है। वह सबकी अपनी संपत्ति हो गए हैं। कहते हैं तुलसीकृत रामायण का जितना प्रचार उत्तर भारत की हिन्दू जनता के बीच है, उतना बाइबिल का इंग्लैंड की जनता के बीच नहीं है।[1] साधारणतया शिक्षित और अशिक्षित दोनों का समानतया आदरणीय ग्रन्थों की संख्या विश्वसाहित्य में भी विरल है और 'ऐसे कर्ता बहुत कम मिलते हैं जिनकी रचना दोनों को समान रूप से प्रिय हो अर्थात जिनकी रचना सर्वप्रिय हो ऐसे कवि इने गिने ही होते हैं। जिनकी रचना सर्वप्रिय होती है वे ही विश्व-कवियों की श्रेणी में आते हैं। .... महाकवि तुलसीदास ने जो कुछ लिखा वह सब अभी विश्व काव्य के रूप में भौगोलिक रूप में भले ही न आया हो पर रामचरितमानस विश्व काव्य के इस अर्थ में पूर्णतया प्रतिष्ठित है।'[2]

तुलसीदास की रचना सर्वजन समादृत क्यों है? यदि वह शब्दालंकार, अर्थालंकार आदि की बाह्य शोभा के कारण है तो संस्कृत और हिन्दी में ऐसे कितने ही काव्य हैं जिनकी रचना ही अलंकारों के चमत्कार प्रदर्शन के लिए हुई हैं। रसराज शृंगार के विवृत वर्णन भी मानस में नहीं हैं। यदि भक्ति का मूर्च्छना ही तुलसी के ग्रन्थों के आकर्षण का कारण है तो भक्ति ग्रन्थों की कमी तो भारतीय भाषाओं में है भी नहीं। फिर तुलसीदास के ग्रन्थों की ऐसी क्या विशेषता है कि उनके ग्रन्थ इतने सर्वग्राह्य और सर्वादरणीय हो गए?

मानव हृदय की सूक्ष्मतम वृत्तियों की पहचान

तुलसीदास की सबसे बड़ी विशेषता है, मानव हृदय की गूढ़तम भावनाओं को समझ लेने की उनकी अपूर्व क्षमता। इन सूक्ष्म भावों का उद्बोधन परिष्करण एवं प्रसरण उच्च कोटि के कवियों द्वारा ही संभव है। कविता या कला

---

1 मेक फी— दी रामायण आफ तुलसीदास' (1930), इन्ट्रोडक्शन पृ० 14।

2 आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र— हिन्दी साहित्य का अतीत, प्र० सं०, पृ० 227।

का क्षेत्र इन भावों से नितरा संवद्ध है और करोड़ो वर्ष के विकास के बाद भी मानव की इन मूलवृत्तियो मे परिवर्तन नही हुआ है। सस्कृति के विकास के साथ यद्यपि इन भावों में कुछ संस्कार तो आ ही गया है, पर मूलतः ये परिवर्तित नही हुए हैं।

उत्तम काव्यो मे प्रतिपादित अनुभूतियो के सम्पर्क मे आने पर हम भाव-योग मे व्यक्तिगत सीमा का वहुधा उल्लघन करते हैं। हम प्रायः यह नही समझने लगते कि पात्रो की अनुभूति का चित्रण किसी अन्य से सवद्ध है। हमे ऐसा लगता है मानो हमारी अपनी ही अनुभूति की अभिव्यक्ति हो रही है। हृदय की सवेदना के कारण हम अपने व्यक्तित्व की सीमा का उल्लघन करके विश्वमानवता की परिधि मे प्रविष्ट हो जाते है। मानव मूलतः समान-धर्मा है, एक ही है। भावो या अनुभूतियो के उद्वोधन के द्वारा समान भावो और अनुभूतियो के जागरण का यही कारण है। कालिदास की 'तंत्रीमार्द्रां नयन-सलिलैः सारयित्वा कथचिद्, भूयो भूयो स्वयमिव धृतां मूर्च्छना विस्मरन्ती' जो विरहिणी यक्षिणी है वह मानव मात्र के हृदय की मृदुल तन्त्रियो को भी झकृत करती है। तुलसीदास के कथापात्रो मे, उनके द्वारा प्रतिष्ठित आदर्शो मे मानव मन अपनी संकल्पात्मक अनुभूति की प्रतिध्वनि ही पाता है। उनके प्रत्येक शब्द मे हम आनन्द के साथ आदर्श की भी आकाक्षापूर्ण करके आगे वढते है। यही विश्व के अन्य कवियो से उनका निरालापन है। कितने महान् कवियो मे आनन्द और आदर्श मे सामंजस्य करने की शक्ति का दयनीय अभाव पाया जाता है।[1] पर निस्सदेह यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास के ग्रन्थो मे आनन्द और आदर्श का सर्वा गपूर्ण सगम हो गया है। मानव मात्र की मनोवृत्तियो का मौलिक लक्ष्य भी यही होने के कारण तुलसी जैसे कवियो की रचना समस्त जनता का कठहार हो गई है।

जन-सम्मति ही सब कुछ नहीं है

तु चन के विपय मे 'प्रस्तावना' मे यह वतलाया गया है कि उनका प्रभाव क्षेत्र तुलसीदास की अपेक्षा बहुत परिमित है। परन्तु केरल प्रदेश की जनता के जीवन मे प्रचार और सम्मान की दृष्टि से उनकी रचनायें ही सर्वप्रथम

---

1. श्री राजवहादुर लमगोड़ा—'विश्वसाहित्य मे रामचरितमानस', प्र० स०, पृ० 184।

माती हैं। कारण वही है जो तुलसी के ग्रन्थो के विषय में कहा गया है। मलयालम के बड़े बड़े आलोचको के अनुसार केरलीय जनता में इतने अधिक प्रभावोत्पादक ग्रन्थ किसी अन्य साहित्यकार की तूलिका प्रदान नहीं कर सकी है। यह भी इस प्रसंग में निवेदन करना है कि केवल जन-सम्मति किसी कवि के महत्व का मानदण्ड नहीं है। टी० एस० इलियट ने लिखा है कि 'किसी कवि के जीवन काल में बड़ी जन-सम्पत्ति और अनन्तरकाल में उसके प्रभाव की अपेक्षा हमेशा कुछ जनता को प्रिय रहना कवि के महत्व का द्योतक है।[1] हमारे दोनो कवियो के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनकी मृत्यु के उपरान्त ही उनके काव्य इतने जन प्रिय हुए और हम आशा भी कर सकते हैं कि प्रत्येक पीढ़ी में इनकी रचना जनता के लिये रुचिकर ही बनी रहेगी। क्योकि जिन सामाजिक आदर्शों के लिए हमारे कवियों ने आवाज उठाई है वह उनकी चिरन्तन महत्ता के कारण नहीं है। समाज के आदर्श बदलते रहेंगे पर काव्य का प्राण भूत तत्व चिरन्तन होने के कारण वह हमेशा मानव को प्रिय रहा करता है।[2]

रामचरित मानस के आधार

महाकवि तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में ही कहा है—

नाना पुराणनिगमागम सम्मत यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥[3]

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने मानस रचना में उपलब्ध अनेक ग्रन्थों से काफी सहायता ली है। यद्यपि वे बार-बार वेद का उल्लेख करते हैं तथापि यह तो सर्वविदित है कि वदिक साहित्य में रामकथा नहीं मिलती है। वेदों से उनका मतलब 'रामतापिनी' सीतोपनिषद आदि परवर्ती रचनाओं से होगा[4]

---

1 टी० एस० इलियट—आन पोइट्री एण्ड पोयट्स' सेकेण्ड इम्प्रेशन, नवबर पृ० 21।

2. Real poetry survives not only a change of popular opinion but the complete extinction of interest in the issues with which the poet was passionately concerned
—T S Eliot—On Poetry and Poets Second Impression p 17

3 मानस, बालकाड श्लो० 7।

4 डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास', तृतीय स०, पृ० 182।

जिनकी रचना रामभक्ति के प्रतिपादनार्थ ही हुई हैं। तुलसी के ये आधार-ग्रन्थ बतलाये गए हैं—

(1) अध्यात्मरामायण	...कथा का दृष्टिकोण
(2) वाल्मीकि रामायण	...कथा का विस्तार
(3) हनुमन्नाटक (4) प्रसन्नराघव	...पुष्पवाटिका का प्रसग जैसे नवीन घटनायें
(5) भागवत	... सूक्तियाँ[1]

पं० राम नरेश त्रिपाठी का कथन है कि दो सौ ग्रन्थो के श्लोको को चुन-चुन कर रूपान्तर करके उन्होने 'मानस' मे भर दिया है।[2] परन्तु मुख्य रूप से तुलसी ने अध्यात्मरामायण का ही आश्रय लिया है। 'मानस' पर अध्यात्मरामायण का इतना प्रभाव है कि 'यदि दोनो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा है कि 'मानस' मे पूरे प्रसंग के प्रसंग अध्यात्म-रामायण के छायानुवाद या संक्षेप है।[3]' कवि तुचन ने भी अध्यात्मरामायण का ही प्रधानतया आधार लिया है। वाल्मीकि रामायण एव मलयालम के 'कण्णश्शरामायण' के अतिरिक्त किसी और रामायण का उन पर प्रभाव सदिग्ध है। तुचन ने कई स्थानों पर पूरे प्रसग के प्रसंग अध्यात्मरामायण से सीधा अनुवाद करके रखे है। उनका रामायण 'अध्यात्मरामायणम्—किलिप्पाट्टु' नाम से अभिहित हुआ है। तुचन कृत रामायण मे अध्यात्म-रामायण की तरह वक्ता-श्रोता केवल शिव और पार्वती हैं जब कि तुलसीदास के 'मानस' मे प्रमुख रूप से निम्नलिखित वक्ता-श्रोता दिखाई पडते हैं—(1) शिव-पार्वती, (2) शिव-कागभुशुडी, (3) कागभुशुडी-याज्ञवल्क्य, (4) याज्ञवल्क्य-भारद्वाज, (5) कुंभज-शिव (6) कागभुशुंडि-गरुड़, (7) कागभुशुंडि-शिव, (8) लोमस-शिव।[4] मानस-सन्निविष्ट इन विविध संवादो का

---

1. डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', तृतीय बार पृ० 424।
2. पं० रामनरेश त्रिपाठी—'तुलसीदास, और उनकी कविता', (स० 1937), पृ० 137।
3. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुसलीदास' तृ० सकरण, पृ० 283।
4. वही, पृ० 183।

तुलसीदास ने किन किन आधारों पर स्थिर किया, यह बताना आसान नहीं। श्री रामदास गौड़ के 'हिन्दुत्व' में कितनी ही रामायणों का उल्लेख किया गया है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि इन असंख्य रामायणों का किसी न किसी रूप से रामचरितमानस पर प्रभाव पड़ा है। जो भी हो आध्यात्मिक विचारों के दृष्टिकोण से तुलसी पर अध्यात्मरामायण का सबसे अधिक प्रभाव तो पड़ा ही है, उनके 'मानस के कथानक पर भी अध्यात्मरामायण का प्रभाव स्पष्ट है।[2] पर अनेक प्रसंगों में मानस और अध्यात्मरामायण में भेद भी है।[3]

चरित्र चित्रण

पात्रों के चरित्र चित्रण में तुलसीदास को असाधारण सफलता मिली है। उन्हें मानव हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों का भी असाधारण ज्ञान था, यही चरित्र चित्रण के विषय में इनकी असाधारण सफलता का रहस्य है। वास्तव में रामचरितमानस में चरित्र चित्रण ही प्रधान है। तुलसीदास ने प्रत्येक पात्र को इस प्रकार चित्रित किया है कि वह अपनी श्रेणी के लोगों के लिये आदर्श रूप है। चरित्र चित्रण में तुलसी का ध्येय लोकशिक्षा है।[4] इसी कारण, चरित्र चित्रण में इन्होंने वाल्मीकि रामायण और अध्यात्मरामायण से स्वतंत्रता ली है। तुलसी ने पात्रों के चरित्र का चित्रण इतने स्वाभाविक ढंग से किया है कि एक ही पंक्ति से चरित्र का पूरा परिचय हम प्राप्त हो जाता है।[5] यथा—

शिव—'एहितन सतिहि भेंट मोहि नाहीं,
शिवसंकल्पु कीन्ह मन माहीं[6] (भक्ति)

---

1 रामदास गौड़—'हिन्दुत्व, पृ० 137।
2 डा० कामिल बुल्के—'रामकथा प्र० सं० पृ० 222।
3 डा० राजपति दीक्षित—तुलसीदास और उनका युग प्र० सं० पृ० 323 35।
4 डा० रामकुमार वर्मा—हि० साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (पृ० बार) पृ० 428।
5 वही, पृ० 424-429।
6 तुलसी ग्रन्थावली' पहला खंड, मानस पृ० 238।

सीता—'जह लगि नाथ नेह अस नाते,
पिय बिनु सियहि तरनिहुँते ताते[1] (पतिव्रता)

राम—सेवन सदन स्वामि आगमनू,
मगल मूल अमगल दमनू ।[2] (गुरु प्रेम)
'सुनु जननी सोइ सुत वड भागी
जो पितुमातु वचन अनुरागी'[3] (माता-पिता प्रेम)
'भरत प्रान प्रिय पार्वहि राजू
विधि सब विधि मोहि सनमुख आजू'[4] (भ्रातृ प्रेम)
'एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं
कालहु जीतिनिमिष महं आनौं'[5] (स्त्री प्रेम)

गोस्वामी जी मे हम दो प्रकार के चरित्र-चित्रण पाते है—आदर्श और सामान्य । आदर्श चित्रण के भीतर सात्विक और तामस दोनो आते है ।[6] राम सज्जनता का प्रतीक है तो रावण दुर्जनता का । दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव आदि सामान्य चित्रण के अन्तर्गत है ।[7]

तुलसी के राम

राम का चरित्र तुलसीदास ने इतना उदात्त और इतना उज्ज्वल बना दिया है कि उसके परे मानव की कल्पना पहुँच ही नही सकती । वे जिन-जिन आदर्शों के लिए स्थित है, सबके वे स्वय आदर्श है । उनका आदर्श केवल वचनो मे ही सीमित नही है, अपितु व्यवहार-क्षेत्र की विभीपिकाओ के बीच भी उसकी पूर्ण प्रफुल्लता दिखाई पडती है । उनकी धीरता, उनकी गंभीरता, उनकी प्रसन्नता, उनकी प्रेमविवशता, उनकी प्रजावत्सलता सब एकदम उच्च-

---

1. 'तुलसी ग्रन्थावली', पहला खड, मानस, पृ० 182 ।
2. वही, पृ० 161 ।
3. वही, पृ० 173 ।
4. वही, पृ० 173 ।
5. वही, पृ० 333 ।
6. वही, पृ० 185 ।
7. प० रामचन्द्र शुक्ल—'गोस्वामी तुलसीदास', सप्तम सं०, पृ० 126 ।

कोटि की हैं। राजपद की प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों उनके मन म विक्षोभ पदा नहीं कर सकते। देखिए—

प्रसन्नता यो न गताभिषेकत—
स्तथा न मम्ले वनवास दुःखत ।
मुखाब्ज श्री रघुनदस्य
सदास्तु मे मजुल मगलप्रदा ।[1]

तुलसी के राम म असाधारण महत्व के साथ विनयशीलता भी पायी जाती है। उनकी विनयशीलता मानो उनके आन्तरिक गौरव की ही सरल अभिव्यक्ति है। भवति नम्रास्तरव फलागमै' ठीक यही रीति राम मे भी पाई जाती है। अपनी महिमा का वरणन सुनते समय उनका सिर झुक जाता है। यह उनके चरित्र की एक पहली विशेषता है।

माता पिता, गुरुजन, परिजन, पुरजन सबके साथ उनका व्यवहार कितना शिष्टतापूर्ण है। विशेषकर चित्रकूट की सभा म प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उनका प्रेमपूर्ण और आदरपूर्ण व्यवहार आदि स सब लोग उनके व्यक्तित्व की ओर झुक जाते हैं। सब काय निश्चित करने का भार गुरु वसिष्ठ और अन्य आदरणीय व्यक्तियों के ऊपर छोड देते हैं, अपने को उनका अनुगामी मात्र समझते हैं। भारत के त्याग और सात्विक स्वभाव की भूरि भूरि प्रशसा करके उनकी ग्लानि और अवसाद को दूर करते हैं कैकेयी माता से बार-बार भेंट करके अपने हृदय की सफाई का परिचय देकर उनके हृदय म जो कुठा उत्पन्न हुई है उसका परिहार करते हैं। वस्तुत गोस्वामी तुलसीदास मनोविज्ञान के अप्रतिम पडित थे। स्वापराध बोध से प्रपीडित आत्मा का उद्धार किस प्रकार सभव है यह वे भलीभाँति जानते थ।

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास एव तुचन दोनो ने राम को साक्षात् ब्रह्म के रूप म ही चित्रित किया फिर भी उनकी मानव सुलभमनोवृत्तिया का सवथा बहिष्कार इन दोनों महात्माओ ने नहीं किया। सीता का पुष्पवाटिका म देखते ही रामचद्र का हृदय तरुण साधारण अनुराग से आलोडित हो जाता है। यह शुद्ध सात्विक राग है, निमल तथा दिव्य प्रेम की अनुभूति है। काम विकार

---

1 'मानस अयोध्याकाण्ड, श्लोक 2।

की पंकिलता इसमे लेशमात्र भी नही है। अपने इस अनुभूत मानसिक विक्षोभ को अपने भाई लक्ष्मण के सामने व्यक्त करते हुए वे संकोच नही करते—

'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा
सहज पुनीत मोर मनु छोभा'[1]

ठीक उसी प्रकार सीता जी के वियुक्त होने पर उनकी व्यथा प्रायः मानव की कोटि तक पहुँच जाती है, यद्यपि उसमे वाल्मीकि के राम का स्वाभाविक हृदय-प्रवाह नही पाया जाता। गोस्वामी जी अपने राम को प्राकृत जनो के समान रोते-बिलखते दिखाना पसन्द नही करते, फिर भी—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ॥[2]

आदि प्रसग अत्यन्त मार्मिक हो गये हैं। उसी प्रकार—

'लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा। देखत केहिकर,मन नहिं छोभा।'[3]

आदि वचन सच्चे विरही के हृदयोद्‌गार ही हैं।

शत्रु के साथ व्यवहार करने मे भी मर्यादा-परिपालन तुलसी के राम अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। अंगद को दूत बनाकर रावण की राजसभा मे भेजते समय वे यह कहना नही भूल जाते कि वह ऐसा व्यवहार करे जिससे दोनों पक्षो की भलाई हो। वे अपने प्राणो की बाजी लगाकर भी शरणागतों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। रणक्षेत्र मे विभीषण की ओर जब रावण शक्ति छोडता है तो स्वयं राम अपनी छाती पर उसे लेकर उसकी रक्षा करते है। पर, राम के उत्कृष्ट चरित्र मे दो काले धब्बे भी पड गये हैं। एक शूर्पणखा—प्रणयार्थिनी नारी—के प्रति उनका व्यवहार और छिपे-छिपे बाण मारकर बालि का प्राणान्त करना। तुचन ने इन दोनों कलंको से राम के चरित्र को, आंशिक रूप से ही सही, बचाने की चेष्टा की है। 'ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की त्रुटियाँ राम के अन्यथा दिव्य चरित्र को मानवता के साधारण धरातल पर ले आती हैं, इसलिए इनका औचित्य इसी बात मे है कि ये जैसी हैं अपने उसी रूप मे कथा मे बनी रहें।'[4]

---

1. 'मानस', बालकाण्ड, (मूल गुटका, गीताप्रेस), पृ० 162।
2. 'मानस', अरण्यकाड, (मूल गुटका), पृ० 431।
3. वही, पृ० 436।
4. डा० माताप्रसाद गुप्त, 'तुलसीदास', तृ० स०, पृ० 289।

भरत

'मामर भगति' की जीवन्त मूर्ति भरत का चरित्र केवल मानस में ही नहीं, संसार के किसी भी ग्रंथ में चित्रित हुआ हो इसमें संदेह है। राम के चरित्र के प्रकाश के सामने ग्रमरदीप के समान अपने को ग्रौर भी उज्ज्वल प्रतिष्ठित करने की चारित्रिक क्षमता केवल भरत में ही पायी जाती है। भरत का भ्रातृप्रेम सीमातीत है। उन्हीं के कारण राम को वन जाने का कष्ट भोगना पड़ा, राज्याधिकार से वंचित रहना पड़ा, यह सोचते ही उनकी आत्मा विक्षत हो उठती है। इस विश्व की समस्त विभूतियों को वे राम के लिए छोड़ने को तैयार हैं। परिवार या राज्य में कोई यह नहीं समझता कि इस दुःखद घटना का कारण भरत हैं। सब लोग उनकी पवित्रता ग्रौर शुद्धता पर समान रूप से विश्वास करते हैं, फिर भी उनकी आत्मा ग्रत्यन्त विह्वल ग्रौर विक्लिष्ट हो जाती है। केकयी राज्य से लौटते समय, समाचार पाने के पहले ही, सारा विश्व उनकी दृष्टि में शून्य सा दिखाई पड़ता है। इतने शोकाकुल वातावरण में ही यह दुःखद घटना उनको सूचित की जाती है।

सुनत भरत भये बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरिनादा।
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमि तल ब्याकुल भारी॥[1]

पर

भरतहिं बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु ग्रपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥[2]

ग्रौर

मलिन बसन बिबरन बिकल कृससरीर दुखभार।
कनक कलप बर बेलि बन मानहु हनी तुसार॥[3]

भरत के हृदय की वेदना को शब्दों द्वारा व्यक्त करना ग्रसम्भव है।

चित्रकूट में राम भरत के मिलन का दृश्य वस्तुतः किसी भी देश के किसी भी साहित्य में ग्रसम्भव है। उन दोनों के मिलन के दृश्य का गोस्वामी जी ने

---

1 'मानस', ग्रयोध्याकाण्ड (मूल गुटका, गीताप्रेस सं०), पृ० 319।

2 वही।

3 वही, पृ० 320।

इतना भव्यरूप प्रदान किया है कि वह एकदम अलौकिक आभा से उद्दीप्त हो उठता है। उसके दिव्य परिवेष में मानवमात्र का हृदय नही, जड़ प्रकृति भी रोमाचकचुकित हो उठती है। धन्य है भरत का जीवन, जिसके सम्बन्ध मे स्वय भगवान के श्रीमुख से यह वाणी निकली—

मिटहिं पाप प्रपंच सब
अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुख
सुमिरत नाम तुम्हार ॥[1]

भाई के सामने प्रेमावरुद्ध कंठ होने से कुछ भी नही कह सकने वाले भरत की वह दिव्यमूर्ति, आखो से आनन्द और आशा, सताप और चिन्ता के आँसुओ को बहाने वाली वह दिव्यमूर्ति, कैसे भुलाई जा सकती है! सच पूछा जाए तो रामायण मे सर्वथा उज्ज्वल और उदात्त चरित्र भरत का है। लक्ष्मण, राम की परिचर्या मे अनेक सकट झेलते हुए चौदह वर्ष वन में व्यतीत करते हैं, पर भरत उतना समय गृह मे ही तपस्वी का जीवन बिताते है। राज्य को स्वीकार करने मे स्वय राम की अनुमति, पिता की अनुमति, और गुरुजनो की आज्ञा, जनता की सम्मति यह सब होते हुए भी भरत तैयार नही होते। अन्त तक अपने प्रण मे अडिग रहते है और रामायण के सर्वोत्तकृष्ट चरित्र का पद प्राप्त करते है।

लक्ष्मण

मानस के लक्ष्मण को शुक्ल जी ने साधारण पात्र की कोटि मे स्थान दिया है। लक्ष्मण राम-चरण-रति मे किसी से पीछे नही हैं। लक्ष्मण मे सेवा-परायणता, त्याग, आत्मवलिदान की भावना, धीरता, साहसिकता आदि गुण पूर्ण रूप से वर्तमान है। वे राम के साथ ही वन-वन घूमकर अनेक संकटो का सामना करते है। युद्ध-क्षेत्र मे अनेक शत्रुओ को मारकर राम की विजय मे सहायता पहुँचाते हैं।

राम के अभिषेक विघ्न से लक्ष्मण को सर्वाधिक क्रोध हुआ। वे बहुत क्रोधशील व्यक्ति हैं। क्रोधावेश मे वे पिता को भी खरी-खोटी सुनाने मे संकोच

---

1. 'मानस', अयोध्याकाण्ड, (मूल गुटका, गीताप्रेस), पृ० 371।

नहीं करते। जनकपुरी म जनक मुँह से वीरविहीन मही मे जानी' सुनते हो वे आवे से बाहर हो जाते हैं। परशुराम के साथ सवाद करते हुए वे यह भी नही सोचते कि परशुराम अत्यन्त प्रसिद्ध तपस्वी, वीर महात्मा हैं और आयु म भी अत्यन्त वद्ध हैं।

निषाद के साथ ऐसे लक्ष्मण दार्शनिक चर्चा भी करते देखे जाते हैं। तुलसीदास ने इस विषय मे शायद अध्यात्मरामायणकार का अनुकरण ही किया होगा।

सीता

मानसकार की सीता जगज्जननी हैं, साथ ही साथ आदर्श भारतीय कुल वधू का आदर्श भी उनमे पूर्णतया प्रस्फुटित हुआ है। भारतीय नारी जीवन की यह विशेषता बतलाई जाती है कि उसका जीवन पति सेवा के लिए अर्पित है दूसरे शब्दो म भारतीय नारी पति से पृथक अपना अस्तित्व तक नही जानती। यही बात सीता जी म भी पाई जाती है। उनकी शालीनता सरलता लज्जाशीलता, पतिपरायणता और सेवावृत्ति आदि सभी गुण उन्हें आदर्श नारी की कोटि मे पहुँचा देते हैं। वे पति विरह मे एक दिन भी जीवित नहीं रह सकती। राम के वनगमन की वार्ता पाते ही कौशल्या के पास पहुच जाती हैं। खेद और वैवश्य के कारण कुछ नहीं बोल पातीं। पृथ्वी पर पैर की उँगली से रेखा खींचतीं—

समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाई।
जाइ सासु पद कमल जुग बदि बठि सिरनाई।[1]

वह भी राम के साथ वन जाना चाहती हैं। पर राम के सहमत न होने पर वे और भी व्यथित होती हैं। वे कहती हैं—

प्राननाथ करुना नयन। सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्हें बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान।[2]

चित्रकूट मे अयोध्या से जब मातायें और अन्य बधुजन आ पहुँचते हैं तो वह माताओं की सेवा शुश्रूषा में ही निरत रहती हैं। वन म गृह लौटने के बाद

1 मानस', अयोध्याकाण्ड (मूल गुटका, गीताप्रेस) पृ० 266।
2 वही, पृ० 270।

उनका जीवन आदर्श कुलवधु के समान गृहकार्यों मे ही बीत जाता है।

रावण

रामचन्द्र मे जितने विशिष्ट गुणों की स्थापना गोस्वामी जी ने की है उनके सर्वथा विपरीत गुणो का दर्शन रावण के चरित्र मे होता है। रावण लोक-कटक है। ऋषि-मुनियो का यज्ञ-कार्य विध्वंस करना, उनकी तपस्या भंग करना, सतियो का सतीत्व अपहरण करना यह सब उसका दैनिक कार्य-सा है। वह इतना शक्तिशाली और प्रतापी है कि कोई उसका सामना नही कर सकता। वह दशमुखो और बीस हाथो वाला है जो उसकी शक्ति के ही सूचक हैं। उसके और उसके अनुयायी राक्षसो द्वारा खाये गये राक्षसो की अस्थि से दक्षिण का वनस्थल भरा हुआ है।

पर रावण अत्यन्त वीर, कर्मठ, निडर और उत्साही व्यक्ति है। जीवन मे वह अपने निश्चय को सर्वाधिक महत्व देता है। उसके आत्म-विश्वास की कोई सीमा नही है उपदेश सुनने को वह तैयार नही है। वह जानता है कि राम साधारण मनुष्य नही है, स्वयं परमात्मा हैं। सब लोग सीता को लौटा-कर राम की शरण मे जाने का उपदेश देते है, पर वह मानने वाला नही है। सब सैनिको और बधुओ के मरने पर भी वह राम के सामने सिर झुकाने को तैयार नही है। अन्त मे वह युद्ध-क्षेत्र मे वीर-मृत्यु ही स्वीकार करता है। उसके हृदय से तेज निकलकर राम के शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है। राम भी स्वय मान लेते है कि रावण असाधारण वीर पुरुष है। रावण के चरित्र के अनेक उज्ज्वल अग हैं, पर तुलसीदास ने राम के प्रति अतिमात्र भक्ति और आस्था के कारण उन पर प्रकाश नही डाला है। इस प्रकार करके गोस्वामी जी ने रावण के प्रति ही नही और अपनी 'पायटिक सिंसीरिटी' के प्रति भी अन्याय किया है।

अन्य पात्र

अन्य सभी पात्रों को भी गोस्वामी जी ने आदर्श के रूप मे ही चित्रित किया है। हनुमान सेवाभाव का परमोच्च आदर्श है। स्वामी के कार्य के लिए अपने सुख-दु.ख की चिन्ता किये बिना प्रत्येक कार्य मे वे जुट जाते है। उन्हे स्वामी के कार्य मे लगते समय अपने जीवन की चिन्ता भी नही है। वे राम के परम भक्त, परम विश्वासपात्र आदि महत्वपूर्ण पदवी के अधिकारी हैं। बदर होते हुए भी उनमे उचितज्ञता मनुष्यो से भी बढ़कर है। जगन्माता सीता

देवी के सामने उनका व्यवहार कितना भव्य और उत्कृष्ट है कहा नही जा सकता। युद्ध काय मे भी उनकी दक्षता प्रशसनीय है। आपत्ति के समय में उनकी प्रत्युत्पन्न मति बहुत काम की बन जाती है। अयोध्या मे लौट आने के बाद राम के समीप उनका व्यवहार और सीता तथा राम का उनके प्रति वात्सल्य अत्यन्त हृदयस्पर्शी है।

दशरथ को पुत्र प्रेम के आदश के रूप म गोस्वामी जी ने चित्रित किया है। राम के सबसे बडे और सवगुण सम्पन्न होने के कारण उनकी ओर पिता का विशेष लगाव है। विश्वामित्र द्वारा राम और लक्ष्मण को अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव करने पर राजा दशरथ बहुत दुविधा मे पड जाते हैं फिर वशिष्ठ आदि गुरुजनो के द्वारा आश्वासन देने के बाद ही उनका चित्त शान्त हो जाता है। दशरथ अपनी छोटी रानी कैकेयी पर अधिक आसक्त हैं। बहुविवाह के कारण एक मनुष्य को जो कष्ट सहना पडता है उसका स्पष्ट उदाहरण दशरथ का जीवन है। कैकेयी द्वारा वर माँगे जाने पर सत्यपरिपालन और पुत्र प्रेम के सघष म उसकी आत्मा चकनाचूर हो जाती है तत्परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु भी हो जाती है। उनका पवित्र आदश अमर हो गया है— प्रान जाहिं बरु बचन ना जाई।

मथरा का चित्र तुलसीदास न नारिचरित' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। दासियों के लिये स्वाभाविक सभी कुटिलतायें उसमें वतमान हैं। राम या कौसल्या ने उसका कोई अहित कदापि नही किया था, फिर भी वह उन दोनों से घृणा करती दिखाई पडती है कैकेयी के हिताथ सब कुछ करने को वह तयार हो जाती है। उसम उसका स्वाथ बिलकुल नहीं है—

कोउ नप होउ हमहिका हानी। चेरी छाँडि अब होब कि रानी।।'[1]

मथरा के चरित्र से शेक्सपियर के ओथल्लो के यागो का चरित्र बिलकुल मिलता है। पर इसमें यह विशेषता है कि मथरा देवताओं की माया के वशीभूत होने के कारण ही अनथ की जड बनती है।

कैकेयी सपत्नी कलह और ईर्ष्या की मूर्ति-सी प्रतीत होती है। उसम स्वाथ-लोलुपता दयाहीनता, महत्वाकाक्षा स्वेच्छा परायणता आदि दुगुण

---

1 मानस', अयोध्याकाड (मूल गुटका, गीताप्रेस), प० 245।

स्वभावत. वर्तमान हैं। रावण के समान उसमे भी प्रत्यक्षवादिता की प्रधानता है। राम के वनवास और दशरथ की मृत्यु का कारण वही है। वह स्वय समझती है कि राम अत्यन्त गुणी और महान व्यक्ति हैं और उनकी दृष्टि में कौसल्या और उसमे कोई भेद नही है।[1] पर उनकी मातृभक्ति, सुजनता आदि का कोई प्रभाव उस पर नही दिखाई पडता। उसका जीवन मे एक मात्र लक्ष्य भरत को महीपति के रूप मे देखना है। उसके लिये पति के प्राणो का भी कोई मूल्य वह नही मानती। पर जब भरत राज्य और संपत्ति को ठुकरा-कर भ्राता के चरणो मे पहुँच जाते हैं तो उसका सवेदनशील मातृत्व जागरित हो उठता है। अनुताप मिश्रित आतंक से उसकी आत्मा कराहने लगती है। उस अवसर से लेकर उसकी अन्तरात्मा उत्तरोत्तर शुचि होने लगती है। अनुताप की अग्नि मे पातक और क्रूरता के कूडाकरकट कुछ न कुछ अंश मे जल ही जाते हैं।

कैकेयी की क्रूरता और हृदयहीनता का गोस्वामी जी ने बढा-चढाकर वर्णन किया है। उसकी क्रूरता के पीछे देवताओं का हाथ है, इसलिये उसे पूर्णरूप से दोषी नही ठहराया जा सकता। यदि देवताओं के षड्यत्र का वर्णन नही होता तो चरित्र-चित्रण मे और भी स्वाभाविकता आ जाती।

मदोदरी के चरित्र-चित्रण मे गोस्वामी जी ने कुछ विशेषताएँ प्रस्तुत की हैं। वह रावण-जैसे त्रैलोक्य विजेता वीर पुरुष की पत्नी और मेघनाद जैसे वीरकुमारो की माता है। उसमे अवश्य नारी सुलभ सज्जनता और स्नेह की सत्ता अवश्य अन्य रामायणकारो ने दिखाई है। पर गोस्वामी जी ने मदो-दरी के चरित्र को चित्रित करते हुए कुछ सामान्य मर्यादाओ को विस्मृत भी कर दिया है। मदोदरी अपने पति को उपदेश दे, इसमे कोई अस्वाभाविकता नही है। परन्तु उसने 'नीचे,' 'मदमति' आदि शब्दो से अपने पति को सबोधित किया है। युद्ध-क्षेत्र मे मृतक पति के शरीर के सम्मुख पत्नी का रोदन सुनिये—

> अब तव सिर भुज जबुक खाही। राम विमुख यह अनुचित नाही।
> काल विवस पति कहा न माना। अग जग नाथु मनुज करि नाना ॥[1]

---

1 'कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभाय पिआरी।'
'मानस', अयोध्याकाण्ड, (मूल गुटका, गीताप्रेस), पृ० 245।

2. 'मानस', लकाकाड, (मूल गुटका, गीताप्रेस), पृ० 575।

इससे ज्ञात होता है कि उसे रावण की अपेक्षा राम की विजय पर अधिक रुचि है। यहां गोस्वामी जी ने अपने भगवान के प्रति आस्था के कारण साधारण मानव-मनोवृत्तियों के भी विपरीत वर्णन किया है।

तु षन की चरित्र चित्रण शैली

कहने की आवश्यकता नहीं कि तु षन ने भी राम, भरत, लक्ष्मण, सीता आदि का चरित्र चित्रण उसी परमोच्च आदर्श के आधार पर ही किया है जो तुलसीदास म पाया जाता है। इन महान कथापात्रों के स्वभाव या चरित्र-चित्रण म आदर्शोन्मुखता की पूर्ण प्रतिष्ठा स्वयं आदि कवि ने ही की थी। उस परमोच्च आदर्श के साथ ईश्वरीयता का अंश परवर्ती रामायणकारों ने मिला दिया। तुलसीदास की चरित्र चित्रण शैली म ईश्वरत्व प्रदान की यह व्यग्रता कभी कभी अस्वाभाविकता की सीमा तक पहुच गई है और कभी कभी उन्होंने अन्य अनेक पात्रों के प्रति अन्याय भी किया है। परन्तु तु षन म यह दोष नहीं आने पाया है। वे राम-सीता को तुलसी के समान दिव्य ही मान लेते हैं पर रावण आदि के गौरव को भी न्यायपूर्वक मान लेने को तयार हैं। राम के समस्त कार्यों को ईश्वरत्व के नाम पर न्यायोचित सिद्ध करने की प्रवृत्ति उनम बिलकुल नहीं है। वे हमेशा अपने कथानायक के चरित्र को कलंकों से बचा लेने म तत्पर रहते हैं।

तु षन के राम

तु षन के राम सर्वत्र स्वयं ईश्वर ही हैं पर उनम ईश्वरत्व के भार से मनुष्यत्व नहीं दब गया है। मनुष्यत्व और ईश्वरत्व दोनों समान रूप से उनम प्रस्फुटित हैं। तुलसी और अध्यात्मरामायणकार दोनों ने राम की मानव-लीला म अलौकिकता दिखाई है। पर तु षन ने एसे अलौकिक प्रसंगों का वर्णन अनुचित समझा है।

मर्यादा-परिपालन म तु षन के राम तुलसी के राम के ही समान सावधान हैं। विश्वामित्र के साथ वन जाते समय माता-पिता और गुरु की वन्दना करना वे भूला नहीं दे। वे जनकपुरी म व्यवहार की उचित के पात्र मित्र का स्मरण करते हुए उन्हें नमस्कार करते हैं।

परशुराम-लक्ष्मण संवाद के प्रसंग म तुलसी और तु षन दोनों के राम ने अधिक विवेक संयम और नम्रता से काम लिया है वाल्मीकि के राम के मुह

मे अशिष्टवाणी आ जाती है, पर उसे वे स्वयं रोक लेते है ।[1] अध्यात्मरामायण के राम उक्त प्रसग मे गर्विष्ठ और मर्यादाहीन है, वे परशुराम के हाथ से वैष्णव धनुष छीन लेते है ।[2] पर तुंचन के राम की विनम्रता और विनयशीलता द्रष्टव्य है। यह प्रसंग कवि की अपनी शब्दावली मे ही दिया जाता है—

चोल्लेपुं महानुभवन्मारां प्रौढात्माक्कल्
वल्लाते बालन्मारोडिङ्ङने तुडङ्ङियाल्
आश्रयमवकेन्तोन्नुल्लतु तपोनिधे !
स्वाश्रम कुलधर्ममेङ्ङने पालिवकुन्नु ।[3]

(तुंचन कृत रामायण, बालकाड)

× × × ×

क्षत्रिय कुलतिकलुत्भविक्कयुं चेय्तेन्
शास्त्रास्त्र प्रयोगसामर्थ्यमिल्लल्लो तानुम् ।[4]

(तुंचन कृत रामायण, बालकाड)

अतकान्तकन्पोलुं लंघिच्ची हुन्नतल्ल
निन्तिरुवडियुटे चिन्तितमतुमूलम्
विल्लिङ्ङु तन्नालु ञ्जानाकिलो.कुलच्चीटाम्
अल्लेंकिल् तिरुवुल्लक्केटुमुटाकवेटा ।।[5]

(तुंचन कृत रामायण, बालकांड पृ० 46-47)

---

1. Translation of Valmiki Ramayana by C R. Srinivasa Iyengar p. 21.
2. अध्यात्मरामायण (गीताप्रेस), सर्ग 7, श्लोक० 16, 17, 18 ।
3. हिन्दी अनुवाद —'हे तपोनिधे, बडे-बडे विज्ञ महात्मा लोग अबोध बालको से इस प्रकार का व्यवहार करने लग जायें तो उनको फिर क्या आश्रय रह जायगा ।

हिन्दी अनुवाद

4. मेरा जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ, यह ठीक है । पर शस्त्र तथा अस्त्र के प्रयोग की कला मे मैं बिलकुल असमर्थ हूँ । स्वयं भगवान शकर भी आपके हित के कुछ विरुद्ध नही करेंगे (फिर हम जैसे बालको की क्या दशा है ?)
5. जो भी हो, आप धनुप जरा मुझे दे दीजिये । उस पर डोरी चढ़ाने की चेष्टा करूंगा । यदि संभव न हो सका, तो प्रार्थना है कि आपके भव्य हृदय मे मेरे प्रति कोई विरोध न हो जाय !'

राम के वचनों में जो परिहार की सूक्ष्म रेखा पायी जाती है वह तु चन की कविता की निजी विशेषता है।

शूपणखा के प्रसंग में तु चन ने राम के चरित्र को ऊंचा उठाया है। शूपणखा के नासिकाकर्णापहरण की कथा राम और लक्ष्मण दोनों के महान् चरित्र के लिये शोभादायक नहीं है। यद्यपि लक्ष्मण ने ही यह कार्य किया फिर भी उसका उत्तरदायित्व वाल्मीकि और अध्यात्मरामायणकार दोनों ने राम के ही ऊपर रखा। तमिल के महाकवि कंबन ने शूपणखा को अत्यन्त कामपीडिता के रूप में चित्रित किया है। कंबन ने राम और शूपणखा के बीच संभाषण का जो वर्णन किया है वह पूर्णत अश्लील है। राम के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिये ही कंबन ने ऐसे संभाषण की उद्भावना की पर शूपणखा के साथ संभाषण करने के कारण स्वयं उनका चरित्र गिर गया। कंबन के अनुसार उस समय लक्ष्मण और सीता दोनों राम के पास नहीं थीं। निराश होकर कामातुर शूपणखा सीता को जान से मार डालने के लिये आश्रम में घुस गयी तभी द्वार से सब समझने वाले लक्ष्मण ने उसका अंगछेद कर डाला। यहीं तक होता तो कंबन के राम का चरित्र बच जाता। शूपणखा फिर एक बार और अश्लील संभाषण में निरत होती और राम भी कहने लगते हैं कि वे उसे भी ताड़का के समान ही मार डालेंगे। यह भी राम के चरित्र के लिये शोभादायक नहीं है।[1]

तुलसीदास ने इस प्रसंग का वर्णन बहुत संक्षेप में कर दिया है। मानस के राम ने इस निकृष्ट कार्य की आज्ञा न देकर इशारे से ही काम लिया है।[2] इस प्रकार तुलसी ने भी राम के चरित्र को बचाने की चेष्टा की है। क्योंकि इशारे का अभिप्राय नारी का अंग भंग करना ही नहीं होता।

इधर तु चन ने दूसरे ढंग से काम लिया है। इनके राम ने लक्ष्मण को कोई संकेत ही नहीं दिया है। वे शूपणखा को सीता की ओर बढ़ते देखकर रोकते हैं और यह देखकर लक्ष्मण उसके नाक कान काट लेते हैं। तु चन के वर्णन से शूपणखा के प्रति पाठकों के मन में थोड़ी दया उत्पन्न होती है। इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि शूपणखा की काम वासना को वे न्यायसंगत

1 डा० सी०ए० मनन— एलुत्तच्छन एण्ड हिज एज' (1940) पृ० 113 114।
2 'मानस, अरण्यकाण्ड (मूल गुटका गीताप्रेस), प० 419।

मानते हैं। इस प्रकार एलुत्तच्छन ने बड़ी बुद्धिमानी के साथ राम के चरित्र की महत्ता को बचाया है। लक्ष्मण के क्रोधाविष्ट स्वभाव और राम-सीता के प्रति उनकी आदर-भावना सबको दृष्टि में रखते हुए उनके द्वारा ऐसा काम उतना पाशविक नही कहा जा सकता। पर राम की अनुमति, इस काम मे अवश्य उनके चरित्र को कलंकित करती।

यह बतलाया जा चुका है कि पराजितो के प्रति तुंचन के मन मे बड़ी सहानुभूति है। कैकेयी और रावण के लिये जो-जो कटुवचन अन्य रामायण-कारो ने अप्रासगिक भी प्रयुक्त किये वे तुंचन मे नही मिलेगे।

वालि-वध के प्रसंग मे भी तुंचन ने अपने चरित नायक के कलक को लघुतर बनाने का प्रयास किया है। अध्यात्मरामायणकार ने बालि के ऊपर सबसे बडा दोष यह लगाया था कि उसने भाई की पत्नी को स्वीकार किया है। तुंचन की दृष्टि मे उसके वध के लिये यह पर्याप्त कारण नही हो सकता था। उनके राम कहते हैं—'पुत्री, भगिनी, सहोदर-भार्या, पुत्रवधू, माता आदि मे कोई भेद नही है, यही वेदो का वचन है। उसके विरुद्ध जो आचरण करता है उसको मारकर धर्मस्थापन करना मेरा कर्तव्य है।'[1] इसमें वालि के अपराध की सीमा कुछ बढा दी गयी है[2]।

वालि और सुग्रीव के युद्ध के लिये अध्यात्मरामायणकार को केवल दो ही पंक्तियो की आवश्यकता थी, तुलसीदास ने भी चार पंक्तियो मे इस प्रसंग का वर्णन किया है। पर तुंचन ने चालीस पक्तियो मे दोनो के युद्ध का गंभीर चित्र खीचा है।[3] युद्ध के वर्णन मे तुंचन की कुशलता तुलसीदास मे नही पाई जाती।

राम के चरित्र का सबसे उज्ज्वल रूप रणक्षेत्र मे रावण की मृत्यु के बाद तुंचन ने दिखाया है। विजयी की स्वाभाविक सतृप्ति, उन्माद आदि का कोई चिह्न वहां नही है। विभीषण और मंदोदरी का करुण विलाप देखकर उनका मृदुल-हृदय पिघल जाता है। ध्यान रखना चाहिए कि तुंचन की मदोदरी तुलसी की मदोदरी के समान मृतक पति को कोसने वाली नही है। रावण के

---

1. 'तुंचन रामायणम्', किष्किंधाकाड, पृ० 227-228।
2. डा० सी० ए० मेनन—'एलुत्तच्छन एण्ड हिज एज', पृ० 116।
3. 'तुंचन-रामायणम्', किष्किंधाकांड, पृ० 225।

प्रति भी तुंचन की दृष्टि उदार रही है । अपने इष्टदेव के प्रति आराधना की मनोवृत्ति के कारण अन्य पात्रों के प्रति उनके व्यवहार में अन्याय दृष्टिगत नहीं होता है । वाल्मीकि के[1] राम के समान तुंचन के राम भी रावण की वीरता, कर्मपरता, दृढ़चित्तता आदि की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं और इस प्रकार 'परगुण परमाणु' को भी 'पर्वतीकृत्य' दिखाकर हृदय में उल्लसित होने वाले सच्चे महापुरुष का परिचय देते हैं ।

तुंचन का रावण

मानव राम के चरित्र में जैसे हजारों वर्षों से दिव्यगुणों की राशि बढ़ती रह गयी वैसे ही रावण के चरित्र में अपकर्ष विधायक अंशों का आधिक्य होता रहा । कालांतर में राक्षसों का राजा रावण एक भीकर सत्व का प्रतीक हो गया । उसके चरित्र सम्बन्धी असंख्यातीत कहानियों के बीच से उसके दृढ़ व्यक्तित्व का आभास अनायास ही हो सकता है ।

रावण यद्यपि महाबलवान और प्रतापशाली है फिर भी उसमें सात्विक मनोवृत्ति की कमी है । वह राम की पत्नी सीता का अपहरण करता है । सीता के प्रति उसके व्यवहार के चित्रण में काफी भेद विभिन्न कवियों में पाया जाता है । वाल्मीकि का रावण सीता के सामने आत्मप्रशंसा में ही अधिकतर निरत है और साधारण प्रेमी पुरुष के समान अपने ऐश्वर्य और प्रताप की गाथा गाकर सीता का दिल बदलने की चेष्टा करता है ।[3] अध्यात्मरामायण के रावण ने

---

1 Ramayana of Valmiki R V Griffith s translation Edited by M N Venkata Swami p 289 (195) The warrior king has nobly died

2 "He is a great hero having faced me in battle and fought and met his end well
Do not mourn for him It ill befits his journey to the other world
Know, it is the duty of the heroic kings to die in battle Only virtuous souls who die fighting attain the 'heaven of heroism
—Dr C.N Menon—Ezhuthacchan and His Age, p 117

3 रामायण आफ वाल्मीकि, ग्रीफीथ ट्रांसलेशन वाल्यूम, 4, पृ०

राम की अवहेलना और सीता के प्रति उनके स्नेहराहित्य का वर्णन करके सीता का हृदय परिवर्तित करना चाहा ।[1] तुलसी के रावण ने इस प्रसग मे मनोवैज्ञानिकता से काम नही लिया है,[2] परन्तु तुंचन ने एक समर्थ प्रेमी का चातुर्यपूर्ण व्यवहार ही चित्रित किया है । उनका रावण सीता जी के गुणागणो की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपने को उनके सर्वथा विधेय और अनुचर तक समझा [दिया है । मनोविज्ञान की दृष्टि से काम लेने के कारण तुंचन को अधिक सफलता मिली है । मनुष्य के हृदय को शीघ्र प्रभावित करने की शक्ति उसकी प्रशंसा और उसके सामने विधेयत्व मे ही वर्तमान है । रावण सीता से कहता है—

शृणु सुमुखि ! तव चरणनलिन दासोस्म्यहम् ।
शोभनशीले प्रसीद प्रसीद मे ॥'
निखिलजगदधिपमसुरेशमालोक्य माम् ।
निन्निले नी मरञ्ञोन्तिरुन्नीटुवान् ॥

× × ×

भवति तव रमणमपि दशरथ तनूजने-
पार्ताल् चिलक्कं कारणा न्चिलप्पोलेडो ॥
पलसमयमखिलदिशि नन्नायृतिरकिलुम् ।
भाग्यवतामपि कटुकिट्टा परम् ॥

× × ×

किमपि नहि भवति करणीय भवतियाल् ।
कीर्तिविहीनन् कृतघ्नन् तुलों निर्ममन् ॥
श्वपचनुमोरवनिसुरवरनुमवनोवक्कुभि- ।
श्वाक्कलुं गोक्कलुं भेदमिल्लेतुमे ॥

× × ×

---

1. 'अध्यात्मरामायण', सुन्दरकाड, 225-226 ।
2. 'मानस', सुदरकाड (मूल गुटका, गीताप्रेस), पृ० 476 ।

स्वमिविमुख नवननिन्मतिनु नहि सन्यम् ।
त्वद्दासदासो हमद्यभजस्वमाम् ॥

× × ×

सरसमनुसर सादयमयि तवचानुगम् ।
सौजन्य-सौभाग्य-सारसवस्वम ॥
सरसिरहमुखि ! चरणकमलपतितोस्म्यहं ।
सन्तत पाहिमा पाहिमा पाहिमाम् ॥[1]

भरत और हनुमान

भ्रातप्रेम और रामभक्ति के परमोच्च आदश के रूप मे तु चन के भी भरत अमर हो गये हैं। पिता की मृत्यु और राम क वन गमन का समाचार पाते

---

1 तु चन रामायणम् , सु दरकाण्ड प० 288 289 ।

कवि द्वारा इस प्रसग म सस्कृत निष्ठ शब्दो क अपनाय जाने के कारण अब आसानी से समझ मे आ सकता है। जहाँ मलयालम का ही प्रयोग हुआ हो वहाँ की पक्तियो के आधार पर अनुवाद यहा दिया जाता है। पक्ति 4 (समस्त विश्व का अधिपति, असुरो का राजा मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हू) तुम क्यो इस प्रकार अपने म ही विलीन होकर बठी हो ?

पक्ति 5 6 हे सु दरि, तुम्हारे पति दशरथ पुत्र राम को कुछ लोग तो ढ़ूढ़न पर कभी-कभी देख सकते हैं। समस्त ग्रन्थो मे सम्यग् अन्वेषण करने पर भी बडे बडे आम्यवान भी उन्हें देख नहीं पाते।

पक्ति 9 10 तुमको अब और कुछ करणीय नही है। वह बिलकुल कीर्तिहीन कृतघन एव निमम है।

पक्ति 11 12 उनकी दष्टि म ब्राह्मण और चडाल कुत्ते और गौ म कोई भेद नही। (शुनि चव श्वपाके च पडिता समदर्शिन)

पक्ति 13 14 इसम कोई सन्देह नही कि उसके मन म तुम्हार प्रति कोई लगाव नही है मैं तो तुम्हारे दास का दास हूँ मुझ पर कृपा करो, मुझे स्वीकार करो।

(तुचन ने रावण की उक्तियो म भी राम के ईश्वरत्व का व्यग्यमर्यादा क साथ प्रस्तुत किया है।)

ही उनके मन में जो व्यथा होती है उसका वर्णन प्रत्येक पाठक के नेत्रो मे अश्रु भर देता है। चित्रकूट की ओर सपरिवार भरत निकलते है। बीच के गुह के पास वही रुकते हैं जहाँ राम रुके थे। राम के पवित्र चरणो के चिह्न को धूल मे देखते ही प्रेम से वे इतने विवश हो जाते है कि उस धूल मे लोटकर अपने को कृतकृत्य मानते है। चित्रकूट की राजसभा मे भी उनका आचरण अत्यन्त व्यापक हुआ है। हनुमान का चरित्र भी स्वामिभक्ति के आदर्श के रूप मे ही चित्रित किया गया हैं। हनुमान की वीरता प्रदर्शन के लिए ही तुंचन ने पूरे सुन्दरकाण्ड का उपयोग किया है। उनकी सभाषण-पटुता और विवेक भी स्तुत्य है।

प्राय: सभी पात्रो के चरित्र-चित्रण के विषय मे दोनों कवियो मे कोई भारी अन्तर तो नही है। सब अपने-अपने आदर्शो के प्रतिनिधि है। जो कुछ अन्तर दोनो कवियो के दृष्टिकोण मे लक्षित हुआ, उसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। अन्य पात्रो का चित्रण जैसे तुलसीदास ने किया वैसे ही तुंचन ने भी। कारण, मूलत दोनो ने एक ही स्रोत से प्रेरणा ग्रहण की थी। अपने-अपने आदर्शो के अनु-रूप पात्रो को चित्रित करने मे दोनो कवियों को पूरी सफलता मिली है। हाँ, कथानायक राम और नायिका सीता के प्रति ईश्वरीय भावना के आधिक्य के कारण चरित्र के स्वाभाविक विकास मे कुछ रुकावट अवश्य आयी है। इस विषय में महाकवि पूर्णत' सफल हुए है। पात्रो के ईश्वरत्व की ओर मोह न होने के कारण ही उनके चित्रण मे अधिक स्वाभाविकता आ गयी है।

मानस मे रस

तुंचन एव तुलसीदास दोनो मे मानव-हृदय के गूढतम भावो को भी पहचानने की अपूर्व क्षमता थी। सच्चे कलाकारो की वह सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि उन्हे प्राप्त थी जिसके बल पर कविगण सहृदयो के सामने रस के साम्राज्य ही खोल देते हैं। अनावश्यक वर्णनो को हमारे कवि हमेशा बचाते रहे। उन्ही प्रसगो का वे विस्तृत वर्णन करते हैं जो पाठको के हृदय को प्रभावित कर सकें। साधारण कवियो मे यह विशेषता पर्याप्त मात्रा मे नही पायी जाती। जहां तक तुलसी का सम्बन्ध है, इस विशिष्ट पटुता के कारण उनके काव्यो मे नीरस प्रसंगो का प्राय. अभाव ही पाया जाता है। तुंचन मे भी यह विशेपता पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान है। कम पक्तियो मे रसानुभूति की पराकाष्ठा तक पहुचाने की तुलसी की क्षमता अभिनन्दनीय है। जहाँ कही भगवान् की स्तुति का प्रसग आता हो, वहाँ हमारे दोनो कवि अपनी पद-सम्पत्ति का दिल खोलकर उपयोग करते हैं

अन्यथा सभी प्रसगो म दोनो पद सम्बन्धी मितव्ययिता (इकनामी ऑफ वड स) का ही परिचय देते हैं ।

प्राय समस्त रसों और सचारी भावों की अभिव्यक्ति तुलसीदास ने अपने ग्र था मे की है । सचारी भावो के कारण रसों के उद्रेक में तीव्रता आ गयी है । तुलसी के शृ गार रस की अभिव्यक्ति विशेषता उसकी शालीनता और सात्विकता है । केवल शृ गार म ही नहीं समस्त रसों के प्रकरण म उनके साधु-व्यक्तित्व की स्पष्ट मुद्रा पायी जाती है । यहा उनके 'मानस' से रसो के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं ।[1]

शृ गार

(सयोग) प्रभुहि चितै पुनि चित महि, रात लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग जनुविघु मडल डोल ॥[2]

(वियोग) देखियत प्रगट गगन अगारा । अवनि न आवत एको तारा ।
पावक मय ससि स्रवत न आगी । मानहु मोहि जाति हत भागी ।[3]

करुण— सो तनु राखि करब मैं काहा ।
जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ।
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते ।
तुम बिन जियत बहुत दिन बीते ॥[4]

वीर— जो तुम्हार अनुशासन पावौं ।
कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं ॥
काचे घट जिमि डारौं फोरि ।
सकौं मेरु मूलक इव तोरी ॥[5]

---

1 डा० रामकुमार वर्मा— हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', तृतीय बार, प० 430।

2 'तुलसी ग्र थावली' पहला खड, मानस प० 117।

3 वही, पृ० 347।

4 वही, प० 218।

5 वही पृ० 109।

हास्य— टूट चाप नहिं जुरहिं रिसाने ।
बैठिअ होइहि पाय पिराने ॥[1]
जो पै कृपा जरहि मुनि गाता ।
क्रोध भए तनु राख विधाता ॥[2]

रौद्र— अतिरिस बोले वचन कठोरा ।
कहु जड जनक धनुष केइ तोरा ॥
वेगि दिखाउ मूढ न त आजू ।
उलटौं महि जह लगि तव राजू ॥[3]

भयानक— मज्जहिं भूत पिसाच वेताला ।
प्रथम महा झोटिंग कराला ॥[4]

बीभत्स— काक कंक लेइ भुजा उडाही ।
एकते छीन एक लेइ खाही ॥[5]

अद्भुत— देखरखा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ॥[6]

शान्त— लसत मंजु मुनि मडली मध्यसीय रघुचन्दु ।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानन्दु ॥[7]

'इन रसो की व्यापकता बढाने के लिए गोस्वामी जी ने प्रत्येक संचारी भाव का संकेत कर दिया है । उदाहरणार्थ तुलसीदास ने किस सरलता से सचारी भावो का सकेत किया है, यह निम्न प्रकार से है ।'[8]

(1) निर्वेद—अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँति ।
अब तजि भजन करौं दिनराती ॥

---

1. 'तुलसी ग्रन्थावली', पहला खंड, 'मानस, पृ० 118 ।
2. वही, पृ० 119 ।
3. वही, पृ० 115 ।
4. वही, पृ० 413 ।
5. वही ।
6. वही, पृ० 88 ।
7. वही, पृ० 250 ।
8. डा० रामकुमार वर्मा—'हि० सा० आ० इतिहास', तृ० वार, पृ० 431 ।

(2) ग्लानि—भई ग्लानि मोरे सुत नाहीं।
(3) शंका—शिवहि विलोकि सशंकेउ मारू।
(4) असूया—नव सिय देखि भूत अभिलाखे। कूर कपूत मूढ़ मन माखे।
(5) श्रम—थके नयन रघुपति छवि देखी।
(6) मद—जग योधा को मोहि समाना
(7) धृति—धरि बड़ धीर राम उर आनी
(8) आलस्य—रघुवर जाय सयन तब कीन्हा
(9) विषाद—सभय हृदय बिनवति जेहि तेही।
(10) मति—उपज्यो ज्ञान वचन तब बोला।[1]

अलंकार

तुलसीदास ने अलंकारों का प्रयोग पांडित्य प्रदर्शन के लिए कदापि नहीं किया है। उनकी अलंकार-योजना अत्यन्त स्वाभाविक सरल एवं रसानुभूति में सहायक है। भावों की अवहेलना करके उन्होंने अलंकारों का प्रयोग कहीं भी नहीं किया है। अलंकारों के लिए वस्तुएं नित्य जीवन के क्षेत्र से ही चुनी जानी चाहिए यह उनका निश्चित सिद्धांत था। कालिदास की उपमायें प्रसिद्ध हैं उपमा में कालिदास की विजय का रहस्य उनके उपमानों का साधारण जीवन से सम्बद्ध रहना कहा गया है। इधर तुलसीदास में रूपकों की प्रधानता है। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के प्रयोग में तुलसी को समान रूप से सफलता मिली है। उनके शब्दालंकार केवल शब्द चमत्कार के लिए प्रयुक्त नहीं हैं भावाभिव्यक्ति में भी वे सहायक हैं। कुछ अलंकारों में तुलसीदास ने संस्कृत की उक्तियाँ थोड़े बहुत परिवर्तन करके रख दी हैं। कुछ उदाहरण—

उपमा—चित्रकूट के राजसमाज में देवमाया में पड़े लोगों की दशा—

रामहि चितवत चित्र लिखे से सकुचत बोलत वचन सिखे से'

लक्ष्मण जनक-सभा में प्रतिज्ञा करते हैं—

जौं तुम्हार अनुशासन पावौं कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।
कांच घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमितोरी।।

---

1 डा० रामकुमार वर्मा—'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', चतुर्थ बार, पृ० 431।

उत्प्रेक्षा—पुत्र वियोग से व्यथित राजा दशरथ की उक्ति—

'जिम्रइ मीन बरु वारि विहीना, मनि विनु फनिकु जिउइ दुःखदीना'

जनकवाटिका मे राम को देखने के लिए उतावली जानकी की चंचल आँखो पर कैसी उत्प्रेक्षा की गई है[1]—

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गए नृपकिशोर मनुचिंता।
जहं विलोक मृग सावन नैनी, जनु तहं वरसि कमल-सित श्रेनी।

रूपक—'मानस' संबधी यह रूपक देखिये—

सुमित भूमि थल हृदल अगाधू, वेद पुरान उदधि धन साधू।
वरषहि राम सुजस वरबारी, मधुर मनोहर मंगलकारी।
लीला सगुन जो कहहिं वखानी, सोइ स्वच्छता करइमलहानी।
प्रेम भगति जो वरनि न जाई, सोह मधुरता सुसीलताई।
सो जल सुकृत सालि हित होई, राम भगत जन जीवन सोई।
मेधा महिगत सो जलपावन, सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन।
मरेउ सुमानस सुथलथिरामा, सुखद सीत रुचि चारुचिराना।
सुठि सुंदर संवाद वद, विरचे बुद्धि विचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥

छंद-योजना

मानस की रचना मुख्यत चौपाई और दोहा छंद मे हुई है। बीच-बीच मे सोरठा भी आया है। साधारणतया आठ अर्धालियो के पश्चात् दोहा रखा गया है, यत्र-तत्र दो या उससे अधिक दोहे भी चौपाइयों के अन्त मे मिलते हैं। चौपाइया भी आठ के अतिरिक्त कभी-कभी दस, बारह, चौदह, सोलह, अठारह, बीस और छत्तीस तक भी आई हैं।[2] इस प्रकार क्रम का सर्वत्र निर्वाह नही किया गया है। चौपाई और दोहो के बीच मे कभी-कभी हरिगीतिका छद भी आया है। दोहे-चौपाई के बाद हरिगीतिका छद की संख्या अधिक है। मानस के प्रत्येक सोपान के आरम्भ, तीसरे और सातवे सोपान के अन्तर्गत तथा काव्य के अन्त में भी संस्कृत के कुछ श्लोक विविध वृत्तों मे पाए जाते है।

---

1. प्रो० रामबहोरी शुक्ल—'तुलसीदास', तृतीय सं०, पृ० 205।
2. वही, पृ० 212।

शृ गार—

(सयोग) स्वरणमालयु घरिच्चा॰राल् घद मदम
घर्गौजनेयन मुनुपिन सत्रप विनीतयाम् ।
घनुट्न नेत्रोल्पलमालयुमिट्टालयु्ने
पिन्नाले वरणाय मालयुमिट्टीटिनाल ।।[1]

(विप्रलभ) एन्नेयु काणाने दु खिच्चिरिक्कुन्न
निन्ने ञानेन्निनि काणुन्नु वल्लभे ।
चद्राननै नी पिरिञ्ञतु कारणम
चद्रनुमान्न्यनेपोलेयायितु ।।[2]

वीर—'तुम्हारा सकल्प तो बहुत अच्छा हुआ है, चाहे तुम्हारे समान हजारो दुरभिमानी राक्षस राजा रावण एक साथ मेरा सामना करें हे दुष्ट रावण ! पर मेरी इस छोटी उगली के लिए भी वे पर्याप्त न होग तुम फिर मुझसे क्या कर सकते हो ?'

करुण—हाय शिव शिव ! रक्तसिंचित शरीर होकर यह जमीन पर पड़ा हुआ है ! मरतक के समान मनोहर रूप कुमार अभिमन्यु ! प्रसिद्ध वीर अर्जुन का प्रिय पुत्र ! हे गोपीनाथ कृष्ण ! तुम्हारा भागिनी पुत्र !

शात— मन्मथकोटि कोटि सुभगकमनीयम्
कारुण्यपूर्ण नेत्र कामु कबाणधर
स्मर सु दरमुखमजितावरधरम्

---

1 अनुवाद—वह स्वरणमाला धारण करते हुए मद मद गति से कमलनयन (राम) के सामने आ गई । उसका वदन लज्जा से विनम्र था । पहले उसने अपने नेत्रों की उत्पलमाला उन्हें पहना दी फिर वरणमाला ।

2 प्रिये मेरे विरह से अत्यत दु खित रहने वाली तुम को मैं कब देख पाऊ गा ?

सीतासयुक्त सुमित्रात्मजनिपेवित —
पादपंकजं नीलनीरदकलेवरम्
कोमलमतिशातमनलगुणमभि—
राममात्मारामानंद संपूर्णामृतम्
प्रत्यक्षमद्य मम नेत्र गोचरमायो—
रित्ति रुमेनिनित्यं चित्तोवापुकवेणम् ।
(यह मनोहर रूप हमेशा मेरे चित्त मे निवास करे)

अलंकार

तुंचन ने भी तुलसी के समान अलकारो के प्रयोग मे औचित्य की रक्षा की है। उनकी कविता अलंकारो के भार से दवी हुई नही है। रस परिपाक की दृष्टि से ही तुंचन ने भी अलकारो का प्रयोग किया है। तुलसी की अपेक्षा तुंचन मे अलकारो का प्रयोग कम पाया जाता है। तुलसी के समान लंवे-लंवे रूपकों की योजना तुंचन ने कही भी नही की है। उत्प्रेक्षा ही उनको प्रिय लगती है। वह भी प्रसंग के अनुरूप। दो-तीन उदाहरण लीजिए—

उत्प्रेक्षा—'रावण की राजवानी के जलने का वृतांत इन्द्र को सुनाने के लिए ही मानो अग्नि-ज्वालाये अहमहमिकया आकाशमंडल तक पहुच गयी।'

रूपक—'प्रभो ! सीतारुपिणीलता के लिए तुम द्रुम रूप हो।

छंद-योजना

तुंचन ने अपने रामायण की रचना 'किलिप्पाट्टु' छंद मे की है। किलिप्पाट्टु का शब्दार्थ है 'शुक-गीत' (किलि—शुक, पाट्टु—गीत)। इसमें कवि एक शुकी से कथा सुनाने को कहता है और शुकी कहती जा रही है। पृथ्वीराज रासो आदि में जो शुक-शुकी सवाद है उससे यह कुछ भिन्न है। यह केवल एक शुकी ही रहती है जो कवि के आदेशानुमार कथा कहती है। यह किलिप्पाट्टु पद्धति 'मलयालम' भापा मे वहुत लोकप्रिय है। इसके आविष्कर्ता कौन हैं, ठीक से पता नहीं है। कुछ लोग तुंचन को किलिप्पाट्टु शैली के उपज्ञाता मानते हैं, जो ठीक नहीं है।[1]

---

1. डा० सी० ए० मेनोन—'एलुत्तच्छन एण्ड हिज एज, पृ० 174।

किलिप्पाट्टु छन्द के चार मुख्य भेद होते हैं। ये सब मात्रिक छन्द हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध छद 'केका' है। इसमें 24 मात्रायें होती हैं। रामायण के बालकाड मे इसी छन्द का प्रयोग है। दूसरा एक भेद 'काकलि' है और तीसरा 'कलकांचि' है। अंतिम है अन्ननड़ा जिसकी गति बहुत धीमी है। किलिप्पाट्टु छदो की एक विशेषता यह है कि ये सब दोहे के समान द्विपदी होते हैं। पूरे रामायण मे इन्ही छदों का तुचन ने प्रयोग किया है।

प्रबंध-काव्यत्व

भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने महाकाव्य के जो लक्षण निर्धारित किये हैं उनके अनुसार महाकाव्य के आवश्यक तत्व ये हैं।[1]

(1) महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए। सर्गों की संख्या सामान्यतया आठ से अधिक होनी चाहिए। महाकाव्य का आरम्भ नमस्कार आशीर्वाद तथा वस्तुनिर्देश के साथ होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगे आने वाली कथा की सूचना होनी चाहिए।

(2) महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में सामान्यत एक ही वृत्त का प्रयोग होना चाहिए। किन्तु सर्ग के अन्त मे भिन्न वृत्त का प्रयोग होना चाहिए। नाना प्रकार के वृत्तों से समुपेत एक सर्ग का भी होना आवश्यक है।

(3) महाकाव्य का निर्माण किसी इतिहास प्रसिद्ध अथवा सुजन समाज मे प्रचलित वृत्त को लेकर होना चाहिए। नाटको के समान संधियो के आधार पर उसका विकास किया जाना चाहिए।

(4) महाकाव्य का नायक या तो कोई देवता होना चाहिए या कोई धीरोदात्त क्षत्रिय।

(5) शृंगार वीर और शान्त रसों में से एक को अंगी एवं शेष समस्त रसो को अंगों के रूप मे आना चाहिए।

(6) महाकाव्य का लक्ष्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष मे किसी एक की प्राप्ति होनी चाहिये।

(7) सूर्य, चंद्र पर्वत, सध्या, सूर्योदय, चंद्रोदय, उद्यान आदि का वर्णन होना चाहिए। कहीं-कहीं 'सतो' का गुण वर्णन और खलो की निन्दा भी होनी चाहिए।

---

1 साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद श्लोक 315 324।

(8) महाकाव्य का नामकरण कथानक अथवा नायक के आधार पर होना चाहिए।[1]

उक्त सभी लक्षणो के आधार पर 'मानस' और तुंचन कृत रामायण दोनों महाकाव्य की कोटि मे रखे जा सकते हैं।

हमारे साहित्यशास्त्रियो की दृष्टि अधिकतर काव्य के बाह्यरूपो पर रही आंतरिक महत्व पर कम। इसलिए आधुनिक विचारो के प्रकाश मे उनके द्वारा निर्दिष्ट लक्षण पर्याप्त नही प्रतीत होते। आधुनिक विद्वानो के अनुसार महा-काव्य के आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं[2]—

(1) 'उसका देश-काल कल्पना-मंडित अतीत से सम्बन्ध रखता है, जिसमे रहस्य, भयानकता और दिव्यता होती है।

(2) उसका कथानक महिमा-मंडित तथा संघर्षपूर्ण होता है, जिसमे नायक की तथा उसके साथ उसके देश अथवा आदर्शों की विजय दिखाई जाती है।

(3) उसमे जीवन की एक विस्तृत-भूमिका ग्रहण की जाती है।

(4) उसका व्यापार भी महान् अथवा महत्वपूर्ण होता है।

(5) उसका नायक महान होता है।

(6) उसकी शैली गरिमापूर्ण किन्तु सात्विक होती है।

(7) उसका लक्ष्य मानवता को अशक्ति से शक्ति, अशान्ति से शांति की ओर ले जाना होता है।'[3]

मानस और तुचन कृत रामायण दोनो का देशकाल एक कल्पनामंडित अतीत से लिया गया है, जिस समय धरती पर स्वर्ग के देवताओ को भी जीतने वाले राक्षस थे, जब पृथ्वी गाय का रूप धारण कर सकती थी, जब पशु-पक्षी भी बातचीत करते थे, जब इच्छानुसार चलने वाला विमान होता था।

---

1. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास', तृ० सं०, पृ० 365-366।
2. डब्ल्यू० एम० डिक्सन—'इंग्लिश एपिक् एंड हीरोइक पोयट्री' (1912), पृ० 21-24।
3. डा० माताप्रसाद गुप्त—'तुलसीदास', पृ० 367।

इसी दृष्टिकोण से इस प्रबन्ध में तुलसी और तुकाराम दोनों के साहित्यिक और सामाजिक महत्व का मूल्यांकन किया गया है। सामाजिक दृष्टि से दोनों कवियों द्वारा निर्दिष्ट पथ अवश्य कालानुकूल नहीं माना जा सकता। पर इससे उन कवियों के महत्व में कोई कमी नहीं हो सकती। क्योंकि आधुनिक दृष्टि से उन पर दोषारोपण करना ठीक नहीं है। आज सब लोगों के सम्मुख समस्त मानवता के लिए स्वीकरणीय सामाजिक आदर्श वर्तमान है। पर मध्यकाल में सामन्ती प्रथा के अतिरिक्त कोई सामाजिक व्यवस्था संकल्प के लिए भी प्रायः असम्भव थी। ऐसी हालत में दोनों कवियों ने क्या आदर्श उपस्थित किया, यही विचारणीय विषय रह जाता है। इसका विवेचन यथा-स्थान किया गया है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि समाज सम्बन्धी इनकी भावना में त्रुटियाँ के रहते हुए भी तत्सम्बन्धी उनकी जागृत दृष्टि अवश्य प्रशसनीय है।

सर्वोपरि भक्त कवियों के तुलनात्मक अध्ययन से जो बात हृदय को स्पर्श करती है वह है समग्र मानवता के प्रति इनकी सामान्य दृष्टि पाशविकता के पराजय में इनका पूर्ण विश्वास। आज हम इस विश्व में परस्पर कलह और झगड़े में निरत हैं, पर इनके साहित्य के अध्ययन से हृदय में यह आशा बनी रहती है कि इन सब विषमताओं से परे एक दिन ऐसा प्रस्फुटित होगा जबकि मानव अपनी अंतरंग एकता का परिचय पावे और समस्त झगड़ों से उसकी मुक्ति हो जाय। भीषण नरसंहारों और सामरिक आक्रोशों के इस युग में भी मानवता की मौलिक एकता पर बल देने वाली कुछ शक्तियाँ इनके साहित्य में कर्मनिरत हैं। उनकी विजय पर अटल विश्वास किया जाना चाहिए। सत्य की असत्य पर, शिव की अशिव पर, सुन्दर की असुन्दर पर, आज नहीं तो कल, विजय सुनिश्चित है। इस महान त्रैकालिक सत्य की ओर इतनी गहन आस्था रखने वाले भक्तकवियों की समता बहुत कम कलाकार या कवि ही कर सकते हैं। अतएव इनकी महत्ता सर्वथा स्वीकरणीय हो जाती है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

सहायक ग्रन्थ

संस्कृत-हिन्दी

अथर्ववेद — सं० सातवलेकर

अध्यात्मरामायण — अनु० मुनिलाल

अभिज्ञान-शाकुंतल — सं० निर्णयसागर प्रेस

अशोक के फूल — हजारीप्रसाद द्विवेदी

आस्तिकवाद — गगाप्रसाद उपाध्याय

उत्तरप्रदेश के सांस्कृतिक केन्द्र—मथुरा — श्री कृष्णदत्त वाजपेई

ऋग्वेद — वैदिक यंत्रालय, अजमेर

कबीर — हजारीप्रसाद द्विवेदी

कवितावली — सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, लाला भगवान दीन

गोस्वामी तुलसीदास — रामचंद्र शुक्ल

तुलसीदास — माताप्रसाद गुप्त

तुलसीदास — रामबहोरी शुक्ल

तुलसीदास — चद्रबली पांडेय

तुलसीदास और उनका युग — राजपति दीक्षित

तुलसीदास और उनकी कविता — रामनरेश त्रिपाठी

तुलसी चर्चा — भारद्वाज और भद्रदत्त शर्मा

तुलसीदास और उनके ग्रन्थ — भगीरथ प्रसाद दीक्षित

तुलसी संदर्भ — माताप्रसाद गुप्त

तुलसी ग्रन्थावली सं० 1, 2, 3 — सं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवान दीन, ब्रजरत्नदास

तुलसीदास की जीवन भूमि	—	चन्द्रबली पाडे
दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता	—	रणछोड़ पुस्तकालय, डाकोर
दोहावली	—	गीताप्रेस स०
ध्वन्यालोक	—	चौखम्बा स०
नारद भक्तिसूत्र	—	गीताप्रेस स०
भक्तमाल	—	नवलकिशोर प्रेस लखनऊ
भगवदगीता	—	गीताप्रेस स०
भारत का इतिहास	—	ईश्वरीप्रसाद
महाभारत	—	गीताप्रेस स०
मनुस्मृति	—	हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता
मानस रहस्य	—	जयराम दास 'दीन'
मुण्डकोपनिषत्	—	गीताप्रेस स०
यजुर्वेद	—	वैदिक यन्त्रालय अजमेर
रामकथा	—	कामिल बुल्के
रामचरितमानस	—	गीताप्रेस स०
विनय पत्रिका	—	गीताप्रेस स०
विवेक चूडामणि	—	गीताप्रेस
विश्वसाहित्य मे रामचरितमानस	—	राजबहादुर लमगोडा
शाडिल्य भक्तिसूत्र	—	गीताप्रेस
शिवसिंह सरोज	—	नवलकिशोर प्रेस लखनऊ
श्रीमदभागवत	—	गीताप्रेस स०
संत तुलसीदास और उनके संदेश	—	राजपति दीक्षित
साहित्य दर्पण	—	चौखंबा स०
सूरसाहित्य	—	हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिंदी साहित्य	—	
हिन्दी साहित्य का अतीत	—	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	—	रामकुमार वर्मा
हिन्दी साहित्य का इतिहास	—	रामचंद्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य की भूमिका	—	हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दुत्व — रामदास गौड

मलयालम्

कवरामायण चरितम् — रामनपिल्लाई

केरल साहित्य चरित्रम् भाग 2 — परमेश्वर अय्यर उल्लूर

केरलीय चरित्रम् — नायर के० के०

चिन्तारत्नम् (तुंचन कृत) — श्री रामविलास प्रेस

तुंचतेलुत्तच्छन — शंकरन् एलुत्तच्छन्

तुंचनेलुत्तच्छन् — नारायण पिल्लै पी० के०

भाषा चरित्रम् — गोविन्द पिल्लाई वी०

भाषा साहित्यचरित्रम्

वोल्यूम, पहला और दूसरा — नारायण पनिक्कर आर०

मलयाल साहित्य चरित्रम् — परमेश्वरन् नायर पी० के०

महाभारतम् (तुंचन कृत) — श्री रामविलास प्रेस

रामानुजन एलुत्तच्छन् — नारायण पनिक्कर आर०

रामायणम् किलिप्पाट्टु (तुंचन कृत) — देवस्वम् प्रकाशन्

विज्ञानरंजिनी — नारायण पिल्लाई पी० के०

हरिनाम कीर्तनम् (तुंचन कृत) — श्री रामविलास प्रेस

ENGLISH

A History of Ancient Sanskrit Literature — Max Muller

A History of Mediaeval India — Iswari Prasad

A History of South India — Nilkantha Shastri K.A.

A History of Indian Literature Vol. I — Winternitz

A History of Indian Philosophy Vol I & III — Das Gupta S N

Akbar the Great Mughal — Smith V.A.

A sketch of the Religious Sects of the Hindus — Wilson, H.H.

Ancient India — Majumdar, R.C.

Aryan Rule in India — Havell

Bhagavad Gita — Trn. Swamy Prabhavananda & Christoper Isherwood.

Corporate Organization in India — Majumdar

De Quincey's Literary theory —

Essays on the Religion of the Hindus — Wilson H H

✓ Encyclopaedia of Religion and Ethics — James Hastings (Ed)

English Epic and Heroic Poetry — W M Dixon

Early History of Vaishnavism in South India — Ayengar S K

Ezhuthachan and His Age — Menon C A

Hindustan year Book — Sarkar S C.

History and Culture of the Indian People — Majumdar (Ed)

History of British India Vol II — William Hunter

Indian Philosophy Vol I & II — Radhakrishnan

✓ Indian Thought and its Development — Albert Schweitzer

Influence of Islam on Indian Culture — Tarachand

Kerala Emperors who became Baudhas — Joseph T K

Malabar and Portuguese — Panikkar K M

Mughal Empire — Shrivastava A L.

Malabar Manual — Logan

Modern Political Theory — Joad

Oxford History of India — Smith V A (Ed)

Practical Criticism — Richards I A

Rise and Fall of the Mughal Empire — R.P Tripathi

Ramayana of Valmiki (Trn) — R V Griffith

The Poetical works of Mathew Arnold	—	**(Ed. C.B. Tinker & H.F. Lowry)**
The Fligh of Hanuman	—	**Mehtta, C.N.**
The Ramayana of Tulsidas	—	**Mac Fie**
The Holy Lake of the Acts of Rama	—	**Hill, W.D.P.**
The Religious Policy of the Mughal Emperors	—	**Shri Ramsharma**
The Hindu View of Life	—	**Radhakrishnana**
The Story of Philosophy	—	**Will Durent**
The Six Systems of Indian Philosophy	—	**Max Muller**
Vaishnavism Saivism and Minor Religious Systems	—	**Bhandarkar, R.G.**
Valmiki Ramayana	—	**(Trn.) Iyengar, C.R.**

पत्र-पत्रिकाएं

American and Oriental Library Record. 1871
Journal of Royal Asiatic Society—1903. 1907
The Indian Antiquary. 1893
The Illustrated Weekly of India.
नागरीप्रचारिणी पत्रिका
मर्यादा
सनाढ्यजीवन—तुलसी-स्मृति-अंक
साप्ताहिक हिन्दुस्तान
साहित्य परिषत् त्रैमासिक (मलयालम्)

''मरज्ञमन' पनमि'' मधुकटमा
मरमापनी
त्वद्‌भक्त भृत्य परिचारक भृत्य भ
भृत्यस्य भृत्य इति